श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ६
अंक : ५
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा

निगमामृत

[पृथ्वी-सूक्त १२ काण्ड]

५१.

यां द्विपदाः पक्षिणः सम्पतन्ति
हंसाः सुवर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि
कृण्वंश्च्यावयं श्च वृक्षान्,
वातस्य प्रवाभुपवामनु वात्यर्चिः ॥

जिसपर दो पगवाले पंछी हंस गरुड़ भर रहे उड़ान,
जिसपर धूल उड़ाती आंधी और गिराती वृक्ष महान् ।
जब समीपसे वसुधातलपर प्रखर समीरण है चलता,
लपटोंसे अनुसरण उसीका करता हुआ अनल जलता ॥

५२.

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो
दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥

जिस वसुन्धरापर जब होता परम मनोरम प्रातःकाल,
मिलता श्याम रंग रजनीके संग दिवस दूलह-सा लाल ।
वर्षाकी शत-शत धारासे आवृत हो वह भूमि महान्,
हम सबके प्रिय धाम-धाममें भद्र भावनासे दे स्थान ॥

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य
एवं संस्कृति-प्रधान
मासिक पत्र

प्रवर्तक
पुण्यश्लोक जुगलकिशोर बिरला

वर्ष : ९ अङ्क : ५
दिसम्बर, १९७३
श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८

वार्षिक : ७ रु०
आजीवन : १५१ रु०

प्रकाशक
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा
दूरभाष : ३३८

'श्रीकृष्ण-सन्देश' के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिक्य, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोध जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

• नियम : उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छांट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख बिना मांगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक पृष्ठपर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख 'सम्पादक' 'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, केलगढ़ कालोनी, जगतगंज, वाराणसीके पतेपर भेजें।

• 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एकबार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चन्देमें उनके जीवनभर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनिआर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

• विज्ञापन : इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता।
व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा

अनुक्रम

मासिक व्रत-पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०३० पौष शुक्ल प्रतिपद् मंगलवार २५-१२-'७३ से माघ कृष्ण अमावास्या बुधवार २३-१-'७४ तक]

दिसम्बर : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
२५	मङ्गलवार	वड़ा दिन, क्रिसमस डे।
२८	शुक्रवार	वैनायकी गणेशचतुर्थी व्रत।
३१	सोमवार	वौद्ध-जयन्ती।

जनवरी : १९७४ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
१	मङ्गलवार	ईशवीय नववर्षारम्भ : सन् १९७४।
४	शुक्रवार	पुत्रदा एकादशी-व्रत, सवके लिए।
६	रविवार	प्रदोष-व्रत।
८	मङ्गलवार	पूर्णिमा-व्रत, शाकम्भरी-जयन्ती।
११	शुक्रवार	सङ्कष्टी गणेश-चतुर्थी व्रत।
१४	सोमवार	मकर-संक्रान्ति, उत्तरायणारम्भ।
१९	शनिवार	षट्तिला एकादशी-व्रत, सवके लिए।
२०	रविवार	प्रदोष-व्रत।
२१	सोमवार	मासशिवरात्रि व्रत।
३२	वुधवार	मौनी अमावास्या, दर्श ३०।

●

प्रत्यक्ष-दर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

★

भगवान् श्रीकृष्णजीके जन्मस्थानके मैंने १-११-'७३ को दर्शन किये। आज भी यह स्थान 'महान् शक्तियुक्त' मुझे मालूम हुआ। पहुँचनेपर मेरा चित्त अन्तर्मुख बन गया और वह एक नीलाभ प्रभा देखता था। सारा जन्मस्थान चमचम चमकने लगा। यह महान् योगधाम है।

मेरा विश्वास है कि यहाँ सहज मुक्ति है।

स्वामी मुक्तानन्द

'भगवान्का अवतार भूभार उतारनेके लिए होता है। जितने भी अवतार हुए हैं, उनमें भगवान् श्रीकृष्णका अवतार पूर्णावतार है' ऐसा भगवान् स्वामीनारायणने अपने वचनामृतमें कहा है। उस भगवान्की जन्मभूमि है, इसपर तो पूरा सुवर्ण और रत्न-जडित मन्दिर बने तो भी थोड़ा है। आपका जो प्रयत्न है, उसे हमारा धन्यवाद। भगवान्से प्रार्थना है कि वह आपका मनोरथ जल्दीसे जल्दी पूरा करें।

गोपाल चरणदास
वास्ते गुरु योगीजी महाराज;
अक्षर-मन्दिर, गोंडल, (सौराष्ट्र)

भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमिको देखकर मनुष्य एकबार भी अपनेको भूल जाता हैं। इससे ईश्वरके प्रति आस्था एवं मनको शान्ति प्राप्ति होती है। कामना करता हूँ कि भागवत-भवन शीघ्र पूर्ण हो।

काशीनाथ शर्मा
लायन्स डिस्ट्रिक गवर्नर,
श्रीराधेश्याम-भवन, बिहारीपुर, बरेली

My wife and I were very happy to have a Darshan of this Holy place where Lord Krishna was born. The place has been beautifully developed so as to combine the modern anenities with the faith of the olden days. It really gives a peace of mind & spiritual uplift to visit such place. The management was courteous & kind. I wish all success to them.

Jagmohan Lal
Judge : Allahabad High Court
Lucknow.

To come to the birth place of the Lord of the Universe is for one purpose and the purpose is of "Self-Surrender." We have to surrender to him without any reserve and leave everything to Him and then there is no worry.

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

If only I can do this in my life I have fullfilled my visit.

M. I. Chhaya
Chief Engineer C. Rly.
H/27 Bhadwar Park
Wode House Road
Colaba, Bombay.

It was most interesting to visit the Sri Krishna JANMABHOOMI STHAN. It is an integral part of our culture and heritage and those who have helped to perpetuate that, are worthy of our gratitud:—i would be said if all our culture disappeared with the slaught oft industry.

Rajmata Gaytri Devi
City Palace, Jaipur

It was a real privilage to see this historic Temple. May it be the greatest in the world.

R. Kishore
Addl. P. M. G.-U. P.
Lucknow.

I have to great pleasure in visiting the birth place of Sri Krishna on his birthday. This place is very calm and peaceful which can lead a man to Salvation.

N. K. Misr
Speeker
Orrisa Legislatiwe Assembly
P. O. Bhubaneshwar.
(Orissa)
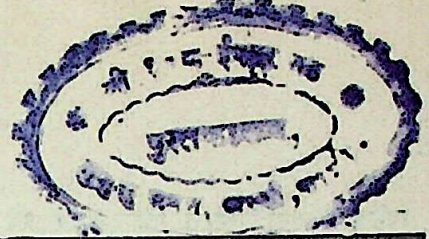
वर्ष : ९] मथुरा : दिसम्बर, १९७३ [अङ्क : ५

योगसिद्धिके अनिवार्य साधन

ध्यान करते समय उसके साधन आसन, विहार आदिके नियम भी अनिवार्यतः पालनीय हैं। पहले आसनको ही लें तो वह अत्यन्त पवित्र स्थलपर, एकान्तमें स्वभावतः सुसंस्कृत देशमें लगाया जाय। आसन स्थिर होना चाहिए, चलायमान नहीं। वह न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ही। यदि अधिक ऊँचा रहा तो साधकके गिरनेका भय रहेगा। आसन बहुत नीचा रहा तो भूतल, पाषाणादिके संसर्गसे वातक्षोभ, अग्निमान्द्य आदि दोषोंकी संभावना रहेगी। आसनकी रचनामें पहले कुशा, फिर पशुचर्म और पश्चात् उसपर कपड़ा बिछायें। ऐसे आसनपर आसीन हो अन्तःकरणशुद्धिके लिए ध्यान करें। ध्यानका प्रकार यह है कि पहले मनको सभी विषयोंसे खींचकर एकाग्र करें और साधक अपने चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओं, व्यापारोंको संयत करें।

इस प्रकार बाह्य आसनकी योजना करके शरीर-धारणमें भी सावधानी बरती जाय। अपनी काया, सिर और ग्रीवा सीधी तथा अचल रखें। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखते हुए आँखोंकी रूपादि-दर्शनकी प्रवृत्तिशून्यतारूप दृष्टिसन्निपात करें। बीच-बीचमें दिशाओंकी ओर देखना भी छोड़ दें। वह प्रशान्त अन्तःकरण निर्भीक हो ब्रह्मचारीके व्रत, गुरुशुश्रूषा, भिक्षान्न-भोजन आदिका अनुष्ठान करें। साथ ही मनकी वृत्तियोंका उपसंहारकर

परमेश्वरमें समाहितचित्त होकर रहे। इस प्रकार समाधान करता हुआ योगी संयतमना बनकर मोक्षनिष्ठाकी शान्ति, जो कि मात्र मेरे अधीन है, प्राप्त करता है।

साधकको आहारके नियम भी अनिवार्यतः पालनीय हैं। अपने लिए अपेक्षित अन्नसे अधिक खा लेनेपर योग सध नहीं सकता और न सर्वथा खाना छोड़ देनेसे ही वह सध पाता है। (योगशास्त्रमें बताया गया कि पेटमें आधा भाग व्यञ्जनयुक्त समस्त भोजनका रहे, तीसरा भाग जलके लिए रहे और चौथा भाग वायु-संचरणार्थ रिक्त ही छोड़ दिया जाय।) इसी प्रकार अतिनिद्रा और अतिजागरण भी योगीके लिए निषिद्ध है। जो नियत परिणाममें आहार और विहार करता है, कर्म भी नियमित चेष्टाओंके साथ करता है, साथ ही निद्रा और जागरण भी नियमित करता है, उसके लिए यह योग-साधना संसारके समस्त दुःखोंका क्षय करनेवाली सिद्ध होती है।

अर्जुन, यदि तुम जानना चाहते हो कि साधक कब योगयुक्त कहा जा सकता है तो सुनो। जब चित्त सर्वथा एकाग्र बनकर सारी बाह्य चिन्ताएँ त्याग केवल अपनी आत्मामें ही स्थिति पाता है और साधक सभी कामनाओंसे दृष्ट-अदृष्ट सभी विषयोंकी स्पृहासे निःस्पृह हो जाता है, तभी वह योगयुक्त या समाहित कहलाता है।

ऐसे योगीके समाहित चित्तकी कोई उपमा देनी हो तो कहा जा सकता है कि जैसे वायुशून्य प्रदेशमें स्थित दीपक तनिक भी चलित नहीं होता, उस समाहित साधकका चित्त भी ठीक उसी प्रकार हो जाता है, जो अपने अन्तःकरणको संयतकर आत्मामें समाधि-साधनाका अनुष्ठान करता है।

इस तरह जब सभी ओर अनिवारित-प्रचार चित्त योगानुष्ठानसे सर्वथा निरुद्ध हो जाता है, तब उस समाधि-परिशुद्ध अन्तःकरणसे परमचैतन्य ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कारकर वह अपने आपमें परम सन्तुष्टिका अनुभव करने लगता है।

कारण, जो मात्र स्वानुभवगम्य आत्यन्तिक सुख है, वह किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं हो सकता। उपर्युक्त स्थितिमें साधक उसी सुखका साक्षात्कार करता है, साथ ही वह वैसा करते हुए भी अपने तात्त्विक स्वरूपसे तनिक भी च्युत नहीं होता। इस आत्मसुखका लाभ पाकर वह अन्य किसी लाभको उससे बड़ा लाभ नहीं मानता। इस तरह आत्मतत्त्वमें स्थित योगी, चाहे उसपर कोई वज्र भी डाले, तनिक विचलित नहीं होता।

साधक योगीकी यह आत्मावस्थ-स्थिति दुःख-संयोगका वियोगरूप योग ही है। इस योगको अनिर्विण्णचित्त हो निश्चयपूर्वक अनुष्ठान करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते जन्म-जन्मान्तर वह सिद्ध होकर रहेगा।

श्री श्याम-सुषमा

मो मन प्रीतमकी छबि छलकै !
परम पुनीत प्रीति-पुतरीसी माधवकी छबि लखि मति मुलकै ॥

– १ –

शिखि-सिखण्डकी सुभग झुकनमें मन-पंछी पुनि-पुनि जा अटकै ।
असित अलककी ललित लटनमें लटकि-लटकि मन कतहुँ न भटकै ॥

– २ –

काम-कमान सरिस भौंहनपै तिलक-रेख सायक-सी झलकै ।
चितवन-चारु चलनसों चकि-चकि चित्त-भ्रमर रस-बस तहँ अटकै ॥

– ३ –

अरुन अधर सित रदसों उझलत मृदु मुसकान मार-मद झटकै ।
कुण्डलकी झलमल-झलमल द्युतिसों गण्डस्थल पै छबि छलकै ॥

– ४ –

सुभग स्याम तनु सोह पीत पट, मनहुँ सघन घन दामिनि दमकै ।
अंग-अंग छलकत अनंग-छबि मृदिमाकी प्रतिमा जनु पुलकै ॥

– ५ –

बहुविध मणिमण्डित आभूषन, मनहुँ नभग नखतावलि चिलकै ।
मधुर मुरलिकाकी मोहनि धुनि सुनि-सुनि मानिनिको मन मटकै ॥

– ६ –

पद-पाथोज अरुन पदतलसों अरुन-नील सरसिज छबि छलकै ।
ललित ललनकी लटकि चलन लखि गज-सावकको गति हिय खटकै ॥

– ७ –

मणिमय नूपुरकी रुनझुन धुनि सुनि-सुनि मुनिजनकी मति मटकै ।
पै निज नयन निरखि अद्‌भुत छबि तिनकी मति कहुँ अनतन अटकै ॥

– ८ –

प्रिया-प्रीति पूरित मूरतिसों मो मन-गगन सतत रस छलकै ।
यही आस प्रीतम पद-पंकजसों यह मन-मधुकर नित ललकै ॥

–– श्री 'सनातन' ––

यदि सुख चाहते हो तो !

ब्रह्मलीन स्वामीश्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज

प्रेषक : गोविन्द प्रसाद चतुर्वेदी शास्त्री धर्माधिकारी

★

विश्वमें दो शक्तियाँ हैं दैवी तथा आसुरी। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में लिखा है : **कनीयसः देवः ज्येष्ठः असुरः।** इस संबन्धमें भगवान् आद्य शंकराचार्य कहते हैं अन्तःकरणकी काम-क्रोधादि वृत्तियाँ ही असुर हैं और क्षमा, शान्ति ही देवता हैं।

प्रत्येक मनुष्यमें जिस प्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि हैं, उसी प्रकार दया, क्षमा, अकार्पण्य आदि आठ गुण भी हैं। किन्तु बहुधा मनुष्यके हृदयमें काम, क्रोध, लोभादिकी वृत्तियाँ प्रबल रहती हैं। इससे स्पष्ट हैं कि असुरोंका प्रभाव विशेष रहता है। सद्-ज्ञानकी शिक्षाके लिए गुरु, पाठशालाओं आदिकी व्यवस्था है फिर भी लोग सद्ज्ञान ठीकसे नहीं समझ पाते। किन्तु काम, भोग, वासना आदि बिना शिक्षणके ही मनुष्योंको ज्ञात हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि आसुरी प्रवृत्ति प्रबल है। इसीलिए भक्त भगवान्‌से कहते हैं : 'भगवन् ! मेरे द्वारा आपके चरणोंमें अपना मन भेंट किया जाता है, परन्तु काम रूपी शत्रु मेरा मन आपके चरणोंसे बाहर ले जाता है।

मनुष्य का कर्तव्य है कि काम, क्रोध, लोभको वशमें करे। जिसने काम, क्रोध, लोभको वशमें नहीं किया, उसीको कष्ट है। नरकके भरनेका भी यही कारण है। नरकमें जानेके भी काम, क्रोध, लोभ ये तीन द्वार हैं। मानवको इनसे बचनेका उपाय सीखना चाहिए। इन्हें जीतनेवाला सूर्य-मण्डलको भी जीत लेता है। कामादिको जीतनेके लिए भगवान्‌के चरण ही एक मात्र साधन हैं।

लौकिक उपाय सिद्ध नहीं हैं। ऐकान्तिक उपाय की सिद्धि भगवान्‌की शरण जानेसे ही मिल सकती है। अतः भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, वह प्रभु हैं। 'प्रभु' शब्दका अर्थ ही समर्थ है। समर्थ ही कुछ दे सकता है। प्रभुको कुछ नहीं चाहिए, परन्तु जीवको सब कुछ चाहिए।

भगवान् करुणा-वरुणालय हैं। उन्हें जीवको देखकर दया आती है। उन्होंने गीतामें कहा है :

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
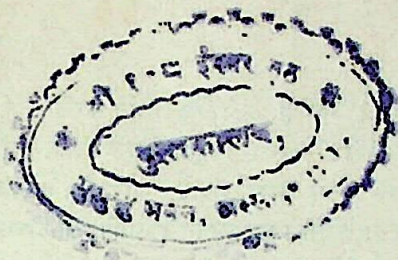
मृद्भक्षण-लीला

स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती

यशोदा माताकी श्रीकृष्णमें दृढ़ आसक्ति है। इसका लक्षण है—प्रपञ्चविस्मरणपूर्वक स्नेहमयी श्रीकृष्णाकारवृत्ति। गोपियोंके द्वारा माखनचोरी, भाण्ड-मञ्जन आदि दोषारोपण करनेपर भी माताके मनमें पुत्रके प्रति दोष-दृष्टिका उदय नहीं हुआ। उसने सब कुछ सह लिया और दोषारोपण करनेवाली गोपियोंके हृदयमें भी प्रेमका दर्शन किया। गोपियों-के द्वारा किये हुए दोषारोपमें भी पुत्रके नवनीतास्वादन और चातुरी-विशेषकी कल्पनासे माताके मनमें एक प्रकारकी तृप्तिका उदय हुआ। ठीक इसीके बाद मृद्भक्षण-प्रकरणके उल्लेख-का यह आशय है कि जहाँ तक पुत्रके हितकी कल्पना है, वहाँ तक तो रोष नहीं है, प्रत्युत सन्तोष है। परन्तु जहाँ मृद्भक्षणसे शारीरिक रोगरूप दोषोत्पत्तिकी सम्भावना है, वहाँ रोषका उदय भी है। ये दोनों वात्सल्यके ही विलास हैं। कभी-कभी मारमें भी रोष और ताड़नाकी अपेक्षा अधिक स्नेह-वात्सल्य ही रहता है।

वेदोंमें भी कहा है कि भगवान् हमारे सखा हैं। जैसे मित्रको देखकर मित्रको दया आती है, वैसे ही भगवान्को हमें देखकर दया आती है। वह आत्माराम हैं, हम आत्मकाम हैं।

अतएव नित्य दान-पुण्य कर प्रभुको अर्पण करो। जो दान करोगे, वही मिलेगा। द्रौपदीका उदाहरण इसका प्रमाण हैं। इससे शिक्षा ग्रहण करो, गीतामें कहा भी है :

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

भगवान् बिम्ब हैं तो हम हैं उनके प्रतिबिम्ब। जिस प्रकार दर्पणमें जिसका जैसा रूप है, वैसा ही रूप दिखलायी देता है। बिम्बको हँसानेसे प्रतिबिम्ब हँसता है। उस प्रकार प्रतिबिम्बको वही वस्तु मिलती है जो बिम्बको दी जाती है। इससे स्पष्ट है जो दान करोगे, वही मिलेगा।

भगवान् शंकराचार्य कहते है कि यह संसार मरुभूमि हैं। इसमें भी सुख चाहते हो तो भगवान्की शरण रहो। उनकी शरणमें हो आयु, श्री एवं सांसारिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। उनकी कृपासे मरणधर्मा भी अमर हो जाता है। यही दैवी सम्पत्ति हैं, इसकी प्राप्ति-हेतु भगवान्की शरण जाना चाहिए।

●

श्रीवल्लभाचार्यके इस प्रकरणको ग्यारह श्लोकोंमें वर्णन करके यह सूचित किया गया है कि मनकी ग्यारह वृत्तियोंको निर्दोष करनेके लिए प्रत्येक श्लोकमें एक नवीन ज्ञानका उद्रेक हुआ है। दोष, उसकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न, संवाद, आरोपका खण्डन, विषयज्ञान-पूर्वक ज्ञानका उत्कर्ष, भय और अन्ततः भीतकी शरणागति। गोपियोंके दोषारोपणमें दर्शन-प्रेमकी। माखनचोरीके उपालम्भकी लीलाके अनन्तर मृद्भक्षणके उल्लेखका यह आशय है कि बाह्य जगत्के कर्म, भोग एवं उपालम्भका फल भी रजोगुण ही है अथवा धूलि-चर्वणके समान ही है। श्रीकृष्णको सूचना है कि उन सबसे अच्छा तो यह धूल खाना ही है।

मृद्भक्षणकी सूचना क्यों ?

प्रश्न यह होता है कि ग्वाल-बालोंने श्रीकृष्णके मृद्भक्षणकी सूचना यशोदा माताको क्यों दी ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि गोप-बालक श्रीकृष्णके साथ समानताका भाव रखते हैं; क्योंकि इसके बिना सख्यरसकी पुष्टि नहीं होती। इसीलिए वे जैसे अपना दोष देखनेके अधिकारी हैं, वैसे ही श्रीकृष्णके भी। पाँच वर्षकी अवस्था तक माता ही ताड़ना दे सकती है, इसलिए मातासे निवेदन किया। माखनचोरीके उलाहनेमें वात्सल्य-रसका विशेष आस्वादन है और मृद्भक्षण लीलामें विस्मय रसका। 'सिद्धान्त-प्रदीप'कारका कहना है कि गोपियोंके उलाहनेपर माताने दण्ड नहीं दिया तो श्रीकृष्णके मनमें यह विचार हुआ कि माता देगी तो उसके वात्सल्यकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होगी। भगवान्को भक्तकी परवशता चाहिए। इसीमें उनका रस है। मृद्भक्षणके प्रसंगमें माता शिशुके आरोग्यार्थ दण्ड देनेका संकल्प करती है। सूचना देनेवाले ग्वाल-बालोंका भी सख्यभाव वात्सल्यमिश्रित ही है; क्योंकि मूलमें बलरामका नाम लिया गया है। वे बड़े भी हैं और सखा भी हैं।

मृद्भक्षण क्यों ?

श्रीकृष्णके लिए नवनीत और मृत्तिका—दोनों एक ही हैं। दोनों पृथिवीके ही दो रूप है। पृथिवीके घर आये हैं, पृथिवीका अंश खायेंगे। तब क्या, पृथिवीका उत्कृष्ट अंश मक्खन खायें और साधारण अंश धूल न खायें ? ऐसा नहीं हो सकता। मीठा-कड़वा दोनों प्रिय हैं; क्योंकि अपने प्रियके हैं। ग्वाल-बालोंने अपने मनमें सोचा कि अबतक ये रसा (पृथिवी) के रसमय अंशका आस्वादन करते थे, तब तो हम लोगोंको साथ रखते थे, अब इस साधारण अंश—धूलिके सेवनमें हमारा प्रतारण क्यों किया ? इसलिए चलकर मातासे कहना चाहिए। बलरामने कहा—'आये हो पृथिवीका भार हरने। ठीक है, ब्रह्माने कहा था—भू-पराग हरण करो, परन्तु कन्हैया भैया तुमने सन्धि-विच्छेद ठीक नहीं किया। भू (पृथिवी) का पराग (धूलि) नहीं था, लेकिन भू + उपराग (संकट) था। कहीं धूल खानेसे भार दूर होगा ?'

श्री हरिसूरिकी उत्प्रेक्षाओंके कुछ और नमूने लीजिये। कृष्ण हैं विधाताके पिता। पुत्रने कहा—पिता जी ! मेरा मनोरथ पूर्ण करो। श्रीकृष्णने पृथिवीका कुछ अंश लेकर

अपने दाँतरूप द्विजोंको दान किया। ब्राह्मणोंको दान करनेसे इष्ट-पूर्ति होती हैं। यहाँ 'द्विज' शब्दका अर्थ है—'दो बार जन्म लेनेवाला'। जैसे—पक्षी, दाँत और द्विजाति। दाँत और द्विजाति भगवान्‌के मुख्य हैं।

स्निग्ध, घृत, दधि, नवनीतादि पदार्थोंका भक्षण करके अशेष स्निग्धताका मार्जन करनेके लिए हाथोंमें मिट्टी लगानेकी प्रथा शिष्टसम्मत है। सम्भव है विश्वमुख प्रभुने यही सोचकर मृद्भक्षण किया हो।

श्रीकृष्णने पूतनाके स्तनमें प्रबल विषका पान किया था। अब उसकी शान्तिके लिए थोड़ी-सी अल्पहानिकरी धूलिका सेवन कर लिया। क्यों न हो—विष ही विषका महौषध है।

श्री हरिसूरिने क्या ही मनोहर भाव प्रकट किया है—

> यद् स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसतां ध्येयं च यद्योगिनां
> प्राप्तं स्यात्किमु तद्रजो व्रजगतं गोगोपिकापादगम्।
> इत्थं भूरि निजोदरस्थजनतद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन्
> मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते॥

प्रभु पूर्ण दयार्णव हैं। उनके उदरमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और उनमें अगणित भक्त-वृन्दका निवास है। भक्तोंके मनमें इच्छा रहती है कि हमें व्रजकी गायों और गोपियोंके चरणोंकी धूलि मिल जाय; क्योंकि वह देवताओंकी भी वाञ्छनीय है, दुष्टोंके लिए दुर्लभ है और योगियोंके लिए ध्येय है। उनकी इस चिरकालीन वाञ्छाको ध्यानमें रखकर ही प्रभुने मृद्भक्षण किया।

श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि आगेकी लीलामें मुझे अनेक रजोगुणी कार्य करने हैं, इसलिए व्रज-रजका भक्षण करके रजोगुणका संग्रह कर लेना चाहिए।

पृथ्वीका एक मनोहर नाम है—'रस'। श्रीकृष्णने अपने मनमें सोचा कि मैंने 'रसा'-का रसास्वादन नहीं किया तो क्या किया! इसी भावसे मृद्भक्षण किया।

क्या ही सुन्दर भाव है कि श्रीकृष्णने अपने हृदयमें विचार किया कि मेरे सखा ग्वाल-बाल मेरे साथ निर्मर्याद व्यवहार करते हैं। ऐसी स्थितिमें क्षमा धारण किये बिना मेरी लीला नहीं बन सकती। इसी भावसे उन्होंने मृद्भक्षणके व्याजसे क्षमाको धारण किया। क्षमा शब्दका अर्थ है—अपकारका बदला लेनेका सामर्थ्य रखनेपर भी सह लेना और पृथिवी। संस्कृतमें इसका रस लीजिये—

> विश्रृङ्खल - विहारिणो मदवमानचेष्टाजुषो,
> भवन्ति शिशवोऽखिला अपि तदत्र मत्क्रीडनम्।
> क्षमांशविधृतिं बिना नहि भवेत्स्वभक्तेष्विति,
> प्रभुः किमु चकार तत्कृतितया क्षमाधारणम्॥

अपने मुखमें विश्वसृष्टि दिखानी है। रजोगुणके बिना सृष्टि हो नहीं सकती। इसलिए रजस्‌का संग्रह किया।

रज और रज।

मैं अपने भक्तोंका केवल आदर ही नहीं करता, उनके चरणोंकी धूल भी अपने मुखमें धारण कारता हूँ और मुख्य बनाता हूँ। 'मुख्य' शब्दका दोनों अर्थ है।

एक विलक्षण भावकी अनूठी छटा देखिये—

> यन्निष्कामतया तपो महदिमे कुर्वन्ति तेनारयः
> कंसाद्या भृशमुन्मदाः समभवन्नेवं विचिन्त्याऽच्युतः।
> संकल्पे रिपुघातसुष्ठुफलके योक्तुं तदा तान् द्विजान्
> मृत्स्नाभक्षणकैतवादिह रजोयुक्तानकार्षीत् किमु॥

भगवान्‌ने विचार किया कि आज द्विजगण निवृत्तिपरायण होकर निष्काम भावसे महान् तपमें संलग्न हैं। यही कारण है कि कंस आदि दैत्यगण अत्यन्त उन्मत्त हो गये हैं। अब इन द्विजोंके मनमें भी दैत्योंके संहारका संकल्प उदय होना चाहिए, तभी सफलता मिलेगी—यही सोचकर मृद्भक्षणके व्याजसे भगवान्‌ने द्विजोंको रजोयुक्त कर दिया क्या? मुख ब्राह्मण है और 'द्विज' शब्दका अर्थ दाँत और ब्राह्मण दोनों है।

जिसका कल्याण चाहते हों, उससे ब्राह्मणोंको कुछ दान करवाना चाहिए। उचित ही है कि पृथिवीका कुछ अंश भगवान्‌ने अपने ब्राह्मण—मुखको दान किया। परशुरामावतारमें भी तो ब्राह्मणोंको पृथिवी-दान किया था।

भगवान्‌से भक्त जितना प्रेम करते हैं उतना ही भक्तोंसे भगवान्। दोनोंको दोनोंकी चरणधूलि प्यारी है।

समदर्शी महापुरुषकी दृष्टिमें उत्तम एवं अधम वस्तुओंमें कोई भेद नहीं है। मानो यही व्यक्त करनेके लिए श्रीकृष्णने मक्खनके समान ही मिट्टीको स्वीकार किया—

> समदृष्टेर्विशेषोऽस्ति नोत्तमाधमवस्तुनि।
> व्यञ्जयन्निति स श्रीशो नव्यवन्मृदमाददे॥

यशोदाने हाथ ही क्यों पकड़ा?

मैयाने जान लिया कि अन्ततः मृद्भक्षण हाथसे ही तो किया होगा चोरका सहायक भी चोर। इसलिए हितभावनासे प्रेरित नेत्रोंसे देखकर यशोदाने हाथ पकड़ लिया।

नेत्र भयभीत क्यों?

भगवान्‌के नेत्रोंमें सूर्य और चन्द्रमाका निवास है उन्होंने श्रीकृष्णको मृद्भक्षण करते देखा था। वे यह सोचकर व्याकुल हो गये कि ये तो मृत्तिका खाकर भी न जाने क्या कह देंगे, हम लोगोंकी क्या गति होगी?

अस्वीकार क्यों किया?

नाहं भक्षितवान्० इस श्लोककी व्याख्यामें कोई-कोई 'नाहम्' शब्दकी व्युत्पत्ति

बन्धनार्थक 'नह्' धातुसे बतलाते हैं। उसका अर्थ है—बन्धन, प्रपञ्च। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं समूचे प्रपञ्चको ही खा गया तो मिट्टीकी क्या चर्चा ?

'सर्वे मिथ्याभिशंसिनः' इसका पदच्छेद भी दो प्रकारसे किया जाता है—मिथ्या और अमिथ्या। श्रुतिने परमात्माको 'अनश्नन्' और 'न तदश्नाति' अर्थात् अभोक्ता कहा है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैया ! मुझे मिट्टीका भोक्ता कहनेवाले मिथ्याभाषी हैं। अथवा श्रीकृष्ण मैयाके अनन्त वात्सल्यके सम्मुख अपने ऐश्वर्यको भूल जाते हैं और भयवश कहते हैं कि ग्वाल-बालोंने मुझे मिथ्या कलंक लगाया है। 'अमिथ्या' पदच्छेदके पक्षमें यह अर्थ है कि मृत्तिका पहलेसे ही मेरे मुखमें है, इसलिये इनका कहना अमिथ्या अर्थात् यथार्थ ही है। इनका यह भी अभिप्राय है कि बलरामजीके वात्सल्य-मिश्रित सख्यसे भयभीत होकर उनके कथनको यथार्थ रूपसे स्वीकार कर लेते हैं। इसमें क्या आश्चर्य है कि जब सच्चिदानन्दघन ब्रह्म शिशुके रूपमें प्रकट हुआ तो शिशु सुलभ स्वभावसे मिट्टी खा ले और उसके बारेमें बड़े-बूढ़ोंके सम्मुख 'नाहीं' कर दे।

सत्यगिरः पदका भी तीन प्रकारसे अर्थ किया जाता है। १—'माता ! यदि तुम ग्वालबालोंको ही सत्यवादी मानती हो तो प्रत्यक्षमें मेरा मुख देख लो।' इसका अभिप्राय यह है कि सभी लौकिक विषयोंमें शब्दकी अपेक्षा प्रत्यक्षको प्रबल प्रमाण माना जाता है। केवल अतीन्द्रिय विषयोंमें ही शब्दकी प्रबलता है। अभिप्राय यह है कि तुम अपनी आँखोंसे मेरे मुखकी जाँच कर लो, लोगोंकी बातोंमें क्यों आती हो। २—**'सत्यगिरः'** 'मे'का विशेषण है, अर्थात् मैं सत्यवादी हूँ और प्रमाणके रूपमें मेरा मुख देख लो श्रुतिका कहना है कि यदि दो विवादी एक साथ आवें और एक कहे कि मैंने सुना है; दूसरा कहे कि मैंने देखा हैं तो सुनी-सुनायी बातकी अपेक्षा देखी बातका मूल्य अधिक होता है। मेरे खाने न खानेके सम्बन्धमें दूसरोंकी सुनी-सुनायी बातको अपेक्षा मेरे अनुभवकी बात अधिक प्रामाणिक है। तुम मेरा मुँह देख लो। हाथ कंगनको आरसी क्या ? मैं तुम्हें ही प्रत्यक्ष अनुभव कराये देता हूँ। ३—**'सत्यगिरः'** अर्थात् **हे सति ! यदि 'अगिरः' गीर्षु असामञ्जस्यं तर्हि मे समक्षं मुखं पश्य।** अर्थात् मैया ! यदि मेरे वचनमें असंगति है, मैं एक ही बातको कभी मिथ्या और अमिथ्या, वस्तुतः अनिर्वचनीय बतलाता हूँ तो तू प्रत्यक्ष ही मेरा मुख देख ले; अर्थात् स्वयं अपरोक्ष अनुभव कर ले। प्रपञ्चके समान ही व्यवहार-दृष्टिसे मेरा भोक्तापन अमिथ्या अर्थात् यथार्थ है और तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या है। यह बात तेरे स्वयंके अनुभवके बिना स्पष्ट नहीं होगी, इसलिए मेरा मुख देख ले।

बालकृष्णके मनमें एक यह भी बालोचित चातुर्य है कि पहली बार मेरे मुखमें विश्व देखकर माताने नेत्र बन्द कर लिये थे, अब मुख-दर्शनकी बातसे, पूर्व-घटनाका स्मरण हो आनेसे माता मुख नहीं देखेगी। परन्तु स्नेहाधिक्यके कारण यशोदाको वह प्रसंग विस्मृत हो गया था इसलिए उसने आज्ञा दे दी कि अच्छा, मुख खोलकर दिखाओ।

मुखमें विश्वदर्शन क्यों ?

पूर्व प्रसंगमें यह लीला आ चुकी है कि जब यशोदा मातासे श्रीकृष्णको दूध पिलाते-पिलाते उनके मुखमें विश्वका दर्शन कर लिया, तब उनके नेत्र बन्द हो गये। ऐश्वर्यके सम्मुख वात्सल्य संकुचित तो हुआ, परन्तु फिर दिन-दूना, रात-चौगुना वृद्धिगत होने लगा। श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि अखिल विश्व-विलासके दर्शनसे मैयाकी पुण्यराशि नटीके समान नृत्य करने लगी है। इस उल्लास और विलासके प्रसंगमें मुझे भी उसके सम्मुख मुख-विकास करना चाहिए। इसीसे मानो कृष्णने माँके सम्मुख अपना मुख खोल दिया हो। क्या ही सुन्दर द्रुतविलम्बित है :

सकल - विश्वविलासविलोकनोल्लसितपुण्यमयीथमिहाधुना।
अजनि तत्पुरतस्तु ममोचितो सुखविकास इति व्यकरोत्तथा॥

और देखिये—यद्यपि श्रीहरिने अपने मुखरूपी अम्बुजात (जलराशि अथवा कमल)में रजः-प्रक्षेप किया था तथापि वहाँ पंककी उत्पत्ति नहीं हुई। इससे वह प्रकट किया—ब्राह्मणमुख निसर्ग-शुद्ध हैं और उनमें पाप प्रक्षालनकी शक्ति है और फिर भी, हे जननी ! मुखअविनाशी अभोक्तामें मृद्भक्षण मिथ्या ही आरोपित है। देख लिया न तुमने; ठीक इसी प्रकार गोपियोंने भी झूठ-मूठ ही मुझपर माखनचोरीका कलंक लगाया था।

अनशनेऽपि मयीह यथा वृथा जननि रोपितमस्ति मृदोऽशनम्।
गणय तादृशमेव पुराऽवलेरितमिति प्रथयन्नमृदाननः॥

भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि पहले-पहल वेदोंने ही लौकिक व्यवहारमें मेरा भिन्न-भिन्न विषयोंके रूपमें निरूपण किया है, अब फिरसे गोकुल-वृत्ति गोपियोंने भी मुझपर प्रौढ़ीवादसे उपालम्भ योग्य कलंकका आरोप कर दिया है। यह सब होनेपर भी माता यशोदाकी बुद्धि किञ्चित् भी संक्षुब्ध नहीं हुई और न उसका भाव ही शिथिल हुआ। इसलिए अब उसे सम्पूर्ण जगदाधारके रूपमें अपना दर्शन देना उचित है। इसी भावसे श्रीकृष्णने मुखमें विश्वका दर्शन कराया। आरोपित भेदका अपवाद हो गया। श्रीकृष्ण ज्योंके त्यों। श्रीहरिसूरिकी निरूपण-चातुरी देखिये—

आम्नायैर्भुवि भिन्नभिन्नविषयं संप्रापितोऽपि प्रभु-
र्भूयो गोकुलवृत्तिभिः पुनरसौ सोल्लुण्ठमाभाषितः।
यद्बुद्धिर्न मनागभूत्तदपि संक्षुब्धा न वा प्रस्खलद्-
भावाऽशेषजगत्स्वरूपकलनं तस्यास्तु तत्साम्प्रतम्॥

यशोदा मैयाने डाँटा—तुम्हारे दाऊदादा और ग्वालबाल कहते हैं कि तुमने मिट्टी खायी है, इसपर भी तुम बार बार कहते जा रहे हो कि मैंने नहीं खायी है। मैं तुम दोनोंमें किसपर विश्वास करूँ ? माँकी यह वाणी सुनकर श्रीकृष्णने उसके संशयका निवारण करनेके लिए अपने मुखमें स्पष्ट रूपसे विश्वास्यताका दर्शन कराया। विश्वासपात्रको विश्वास्य कहते हैं। जिसके आस्य अर्थात् मुख हो उसको भी विश्वास्य कहते हैं।

भुक्तामृद्भवतेति गोपशिशवो जल्पन्ति रामादयो
नेति त्वं भणसीति तत्र कतमो विश्रम्भणीयो मया।
इत्थं मातृगिरं निशम्य भगवांस्तत्संशयोच्छित्तये
स्वास्ये स्पष्टमदर्शयत् किमु तदा मुग्धां सविश्वास्यताम् ॥

मैया ! ये ग्वालबाल मेरा ही नाम लेकर कह रहे हैं कि 'मैंने मिट्टी खायी—मिट्टी खायी, परन्तु यह सोलहों आने झूठ है। मैंने मिट्टी खायी है तो सबने मिट्टी खायी है। देख ले, सब मेरे मुँहमें बैठे हैं कि नहीं।' क्या कृष्णने इसी भावसे अपने मुखमें विश्व दिखाया ?

मामेव तूद्दिश्य वदन्ति सर्वे मातस्त्वदत्यन्तमृषैव यस्मात्।
भुक्ता मया चेदखिलैरपीति सम्बोधयन् विश्वमदर्शयत्किम् ॥

जब श्रीकृष्ण बालकोंके साथ बालक जैसे होकर क्रीडा कर रहे थे तब मिट्टी खाकर उन्होंने बाल-चरित प्रकट किया। परन्तु जब बालकोंने यशोदा मातासे उनसे अपनेसे अलग होनेका वर्णन कर दिया, तब वे स्वतन्त्र भावसे आत्मचरित्र अर्थात् विश्वरूपका प्राकट्य दिखाने लगे।

तत्सावर्ण्यमवाप्य गोपशिशुभिः सक्रीड आसीद्यदा
तन्मृत्स्नाशनतश्च बालचरितं व्यक्तीचकाराऽच्युतः।
शंसद्भिः प्रसुवे यदा शिशुजनैः स्वातन्त्र्यमाप्रापितो
विश्वात्मा स तदाऽऽत्ममात्मचरितं चक्रे स्फुटं साधु तत् ॥

मुखमें ही क्यों ?

भिन्न-भिन्न भक्तोंने मेरे भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंका भिन्न-भिन्न भाँतिसे अनुध्यान किया है। परन्तु उनमें जो सबकी अपेक्षा प्रमुख अथवा मुख्य है, वही जननीको दिखाना चाहिए। इसीसे कृष्णने कौतुकवश माताको मुखमें ही विश्वका दर्शन कराया। अन्यथा अर्जुनके समान माताको भी अपने शरीरमें ही विराट् रूपका दर्शन क्यों नहीं कराया ?

तत्तद्भक्त विभावितानि बहुशो रूपाणि सन्त्येव मे
यत्तत्र प्रमुखं तदद्य जननीं संदर्शयाम्यञ्जसा।
मन्येऽसौ मुख एव विश्वविभवं प्रादर्शयत्कौतुकान्
नो चेदर्जुनवद् व्यदर्शि न कुतः स्वाङ्गे विराडात्मता ॥

श्रीकृष्ण ब्राह्मण-भक्त हैं। वेद-वेदी ब्राह्मणके शरीरमें सब देवता, सारे तीर्थ और तो क्या, सम्पूर्ण विश्व निवास करता है। इस वेद-सिद्ध ब्राह्मण-महिमाको विशद करनेके लिए ही मानो, उन्होंने अपने ब्राह्मणमुखमें निखिल विश्वका दर्शन कराया।

यावत्यो देवतास्ता विदधति वसतिं ब्राह्मणे वेदवेदि-
न्याराक्तीर्थानि कृत्स्नान्यपि किमु बहुना सर्वमेवापि विश्वम्।

इत्थं वेदोपपाद्यं विशदयितुमिह ब्राह्मणानां महत्त्वं
स्वास्ये कृष्णेन विश्वं निखिलमपि तदा ब्राह्मणात्मन्यदर्शि ॥

माताने पूर्व जन्ममें धरा (द्रोणवसुकी पत्नी) के रूपमें प्रार्थना की थी कि मुझे तुम्हारे अनुरूप पुत्रजन्मका सुख मिले। श्रीकृष्णने अपने मुखमें धरा (पृथिवी) का अंश धारण करके यही स्मरण कराया कि तुम्हारी उसी प्रार्थनाको पूर्ण करनेके लिए मैं उसी मुख्य रूपमें आया हूँ। सम्भव है भगवान्‌का यही आशय हो।

संस्कृत भाषामें पृथिवीका एक नाम गौ भी है। प्रभुने पृथिवीके अंश धूलिकी प्रधानतासे मुखमें विश्वका दर्शन कराकर मानो यह सूचित किया कि गौ को आगे करके ही मुझे विश्वकी रक्षा करनी है।

इस संसारके गुरु (विशाल) काननमें जो वस्तु कहीं देखी-सुनी नहीं गयी, वही श्रीकृष्ण-कृपासे यशोदा माताको बालकानन अर्थात् बालकके मुखमें अथवा छोटेसे वनमें दीख गयी, क्या आश्चर्य है? प्रभुने अपने मुखमें विश्वका दर्शन दिखाकर यह प्रकट किया कि सृष्टिके पूर्व और पश्चात् मेरा जो निर्विकार रूप है वेदोक्त, वही नाम-रूपकी कल्पना होने पर भी ज्योंका त्यों ही निर्विकार रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीसे नामकरणके पूर्व अपने मुखमें विश्वका दर्शन कराया और मिटाया। जिससे नामकरण होने पर कोई विकारी न समझ ले।

दो बार विश्वदर्शन क्यों?

गुरुदेवका यह स्वभाव है कि जबतक शिष्यकी बुद्धिमें दृढ़ तत्त्वनिष्ठाका उदय न हो जाय, तबतक बार-बार उपदेश करता रहे। इसमें एक या अनेक बारका नियम नहीं है। निश्चय ही श्रीकृष्ण अनुग्रह-सम्प्रदायके सद्‌गुरु और करुणा-पयोनिधि हैं। इसीलिए उन्होंने यशोदाके दृढ़बोधकी उत्पत्तिके लिए बार-बार अपने मुखमें विश्व-दर्शन कराया।

यावत्तत्त्वमतिः सती समुदयत्यन्ते वसन्तं गुरु-
स्तं तावत्समुपादिशेन्न नियमस्तत्रासकृद्वा सकृत्।
मन्येऽनुग्रहसम्प्रदायगुरुणा कारुण्यदुग्धाब्धिना
सञ्चिन्त्यैवमदर्शि विश्वमसकृत् तत्तत्त्वधीकारणात् ॥

यशोदाका मोह कैसे दूर हुआ?

दर्पणका स्वभाव है—सब कुछ दिखा देना, परन्तु वह अपने स्वरूपको नहीं दिखा सकता, न देख सकता। यहाँ तो श्रीकृष्णके मुख-दर्पणमें स्वयं श्रीकृष्ण और उनका मुख भी दीख रहा है। यह आश्चर्य देखकर यशोदा माता अपने आप ही समझ गयीं कि यह तो प्रकाशान्तर-निरपेक्ष स्वयं प्रकाश आत्मदेव ही हैं। इसलिए उनका मोह निवृत्त हो गया।

सर्वदर्शनचणोऽपि दर्पणः स्वस्वरूप-कलने ह्यनीश्वरः।
अत्र तद्युतमवेक्ष्य तन्मुखं युक्तमात्ममतिराशु साऽभवत् ॥

वैष्णवी मायाका विस्तार क्यों ?

श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि थोड़ी-सी मैंने मिट्टी खायी, इससे माताकी बुद्धि व्याकुल हो गयी। अब देख लिया इसने सम्पूर्ण विश्व मुखमें; तो अवश्य ही मूर्च्छित हो जायगी। इसलिए माताको सावधान रखनेके लिए श्रीकृष्णने अपनी मायाका विस्तार कर दिया।

अत्यल्पभूमिशकलादनमाविशङ्क्य सम्भ्रान्तधीरियमभूत्पुनरद्य विश्वम्।
साक्षादवेक्ष्य भविताऽनवधानशालिन्येतद्धिया विभुरसावतनोत्स्वमायाम् ॥

यह ध्यान रखने योग्य है कि यह माया विमुखजन-मोहिनी नहीं है, स्वजन-मोहिनी है। इसलिए इसका विशेषण दिया है—'पुत्रस्नेहमयी'। यह भगवान्के सामीप्य और प्रेमको बढ़ाती है। विमुखजन मोहिनी माया भगवान्से दूर और विमुख करती है, उसका प्रयोग दैत्योंपर होता है। स्वमोहिनी स्वयं श्रीजी हैं जिसे देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भी मोहित हो जाते हैं।

भगवान्ने विचार किया कि किसी विशेष प्रयोजनकी पूर्तिके लिए मैंने माताको मुखमें विश्वरूप दिखाया। यदि इस रूपकी स्फूर्ति सर्वदा बनी रहेगी तो न इसके हृदयमें वात्सल्य-स्नेह रहेगा और न मुझे माताका लाड़-प्यार ही मिल सकेगा। यही सोचकर अप्रतिहत लीलाशाली भगवान् श्रीकृष्णने यशोदाके मनमें प्रेममयी महावैष्णवी मायाका सञ्चार कर दिया।

किञ्चित्कार्यवशाददर्शि वदने यद्विश्वरूपं मया
तत्स्फूर्तिः समवस्थिता यदि सदैवास्यां ततश्चिन्तितः।
अर्थो नैव भवे मनागपि ममेत्यालोच्य मन्येऽच्युतः
चित्तेऽसावतनोदकुण्ठचरितो मायां महावैष्णवीम् ॥

यशोदा धन्य क्यों ?

लोकपितामह ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं और जगदम्बा, जगद्धात्री, महामाया जिनकी पत्नी है, उन्हीं परमेश्वरको अपना पुत्र माननेवाली यशोदाकी धन्यता स्वतः सिद्ध है।

पितामहोऽपि यत्पुत्रो जगद्धात्र्यपि यत्प्रिया।
तमीशमात्मजं मन्यमानाया धन्यताऽऽर्थिकी ॥

जिसके नामसे ही निरतिशय अमृतका रसास्वादन प्राप्त होता है, जो स्वयं अमृत-स्वरूप हैं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि ध्यान-दानादिके द्वारा जिनकी सेवा करते हैं अमृत-तत्त्वकी प्राप्तिके लिए, वही प्रभु अपने मुख्यरूपका मूल्य चुकाकर जिसके स्तनका दूध पीते हैं, उस यशोदा माताके सुकृतकी सीमा अनुपम है, इसमें क्या सन्देह।

नाम्नैवामृतमुत्तमं दिशति यो यश्चामृतात्मा स्वयं
सेवन्तेऽप्यमृतार्थमेव मुनयो यं ध्यानदानादिभिः।
स श्रीशो निजमुख्यरूपममलं तन्मूल्यमाकल्पयन्
यत्स्तन्यं पिबतिस्म मुष्यनुपमा तत्पुण्यसीमा स्फुटम् ॥

अहो भाग्यम् ! अहो भाग्यम् !!

यं चिन्वन्ति चिरन्तना मुनिवरा बुद्ध्यैकबोध्याध्वनि
यज्ज्ञातोऽपि न वेद वेदनिवहोऽप्यद्यापि तत्त्वार्थतः।
स श्रीमान् जगदादिहेतुरपि चानन्दोऽपि पुत्रात्मना
स्वैरं क्रीडति यत्र तद् व्रजजुषां भाग्यं किमाचक्ष्महे ॥

चिरन्तन मनीषी मुनिजन चिरकाल तक सूक्ष्मबुद्धि द्वारा बोधगम्य मार्गमें जिनका अनुसन्धान करते रहते हैं; जिनके द्वारा प्रकाशित वेदसमूह आजतक तात्त्विक रूपमें अपने प्रकाशकको नहीं ढूँढ़ सका, वही जगदादिकारण परमानन्दस्वरूप श्रीमान् प्रभु पुत्र होकर जहाँ स्वच्छन्द क्रीडा करते हैं, उस व्रजमें रहनेवाले प्राणियोंके सौभाग्यका हम क्या वर्णन करें !

•

सरस्वती-साधना-सिद्धि

 कवित्त

वाणीकी कृपासे, कवि काव्यमें समर्थ होता,
वाणीकी कृपासे, दिव्यदृष्टि है उघरती।
वाणीकी कृपासे, छन्द-कोश-व्याकरण बनें-
वाणीकी कृपासे, भूरि भावना उभरती।
वाणीकी कृपासे, रसालंकृतिकी शक्ति मिले-
वाणीकी कृपासे, सभी साधना सुधरती।
कहे 'कविपुष्कर' प्रसन्न जब वाणी होती-
प्रतिभा स्वयं ही, उक्ति-युक्ति ले उचरती।

सरस्वती श्रीशारदा - सेवक, भाषाभक्त।
जीवन करता सफल है, कर रचना-रुचि व्यक्त।

—जगन्नारायणदेव शर्मा 'कविपुष्कर' शास्त्री

वैष्णव सम्प्रदायोंमें श्रीराधाका स्वरूप

डॉ० केशवदेव शर्मा वेदान्ताचार्य
एम० ए०, पी० एच० डी०

★

समस्त वैष्णव सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें पद्मपुराणमें कहा गया है कि :

अतः कलौ भविष्येति चत्वारः संप्रदायिनः ।
श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः ॥

अर्थात् कलियुगमें चार संप्रदाय आविर्भूत होंगे—(१) श्री, (२) ब्रह्म, (३) रुद्र, (४) सनकादिक । जो क्रमशः उनके प्रसिद्ध आचार्योंके नामपर रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी तथा निम्बार्कके नामसे प्रसिद्ध होंगे । वास्तवमें ये चार वैष्णव सम्प्रदाय ही प्रमुख माने जाते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ भक्ति सम्प्रदाय यथा—(१) राधावल्लभीय, (२) हरिदासी (३) चैतन्य सम्प्रदाय भी वृन्दावनके प्रसंगमें आविर्भूत हुए जो येन केन प्रकारेण इन्हीं सम्प्रदायोंसे सम्बन्धित हो गये ।

अब विचार करना है कि इन समस्त वैष्णव सम्प्रदायोंमें 'राधा'का क्या स्वरूप है अथवा यों कहना चाहिए कि इन सम्प्रदायोंके आराध्य इष्टदेव कौन हैं । समस्त वैष्णव सम्प्रदायोंके प्रस्थान मय ग्रन्थोंके भाष्यरूप देखनेसे ज्ञात होता है कि रामानुज सम्प्रदायका विकास नवीं शती, मध्व तथा निम्बार्कका द्वादश शतक, एवं वल्लभका १५वीं तथा १६वीं शताब्दीमें अपनी चरम सीमापर था । इन आचार्यों द्वारा वर्णित विवेचन ही इस गुत्थीको सुलझानेमें अधिक सहायक होगा ।

रामानुज मत :

इस सम्प्रदायमें जितने भी ग्रन्थ लिखे गये वे संस्कृत तथा तमिलमें ही लिखे गये । अतएव सर्वप्रथम तमिल प्रान्तमें वैष्णव धर्मकी विशेष उन्नति हुई । इन संस्कृतज्ञ आचार्योंने आलवारोंके द्वारा स्वीकृत भक्ति पद्धतिको ही विकसित करनेका प्रयास किया तथा साथमें वेद प्रतिपादित ज्ञान और कार्यका सुन्दर सामंजस्य भी इसमें स्थापित किया । इन आचार्योंने तमिल वेद (तमिल प्रबन्ध) तथा संस्कृत वेदके सिद्धान्तोंमें सामंजस्य स्थापित किया, इसी कारण ये उभय वेदान्ती कहलाये ।

रामानुज तथा मध्व मतमें यद्यपि लक्ष्मी-नारायणकी उपासना पद्धति है किन्तु रामानुज मतमें वैष्णव आलवारोंके सम्पूर्ण साहित्यको ग्रहण किया गया है । आलवारोंका समय

ईसाके पंचम शतकसे नवम शतक तकका है। आलवार भक्तोंने राधा तथा कृष्णका नामं संकेतित करते हुए कहीं भी ऐसा विवेचन नहीं किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस सम्प्रदायके भक्तगण अपनेको नायिका (स्त्री) मानते हैं तथा अपने आराध्य देवको पुरुष रूप। पुरुषके लिए 'मायोन' अथवा कन्नन् (कृष्ण) शब्द प्रयुक्त हुआ है और जहाँ कहीं भी कन्ननूका वर्णन मिलता है वहाँ उनकी प्रधान प्रेमिका 'नप्पिनै'का भी वर्णन आता है अतः अनुमान किया जाता है कि जब दो संस्कृति (वैदिक और तमिल) का संमिलन हुआ तो 'मायोन' की प्रेमिका 'नप्पिमै'के आधार पर 'राधा'का रूप स्थिर किया गया होगा। कुछ भी हो किन्तु इतना तो निश्चय है कि इन दोनोंका व्यक्तित्व तो समान है केवल नामोंमें अन्तर प्रतीत होता है। तमिल भाषामें 'नाप्पिने' एक पुष्पका नाम है इसमें अतिरिक्त 'कुरवैकुह' नामक तमिल नृत्यका वर्णन भी इसी लीला-प्रसंगमें आता है। श्रीकृष्ण स्वयं इस लीला-नृत्यमें भाग लेते थे जो कि रासलीला समकक्ष जैसा प्रतीत होता है। अतएव पाँचवीं-छठवीं शताब्दीमें यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिणके आलवार वैष्णवोंमें रासलीला और राधा-कृष्ण युगलके केलि-विनोदका कोई न कोई रूप विद्यमान अवश्य था जो परवर्ती कालमें और स्पष्ट हो गया।

निम्बार्क मत :

रामानुजाचार्यके पश्चात् श्री निम्बार्काचार्यका आविर्भाव हुआ। निम्बार्काचार्य दाक्षिणात्य होते हूए भी वृन्दावनमें निवास करते थे यही कारण है कि इन्होंने लक्ष्मी, श्री आदिके स्थानपर 'राधा'को ही प्रधानता दी। निम्बार्काचार्य 'दशश्लोकी'के पाँचवे श्लोकमें कहते हैं :

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानां अनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

अर्थात् मैं वृषभानुनंदिनी देवी राधिकाको स्मरण करता हूँ। जो अनुरूप सौभगाके रूपमें श्रीकृष्णके वामांगमें विराजमान रहती हैं, जो हजार सखियों द्वारा सदा परिसेवित रहती हैं तथा जो सदैव सम्पूर्ण मन-कामनाओंको पूर्ण करती रहती हैं। इस सम्प्रदायके श्रीभट्ट लिखित 'युगल शतक' तथा श्रीहरिव्यासदेवाचार्य प्रणीत 'महावाणी' राधाकृष्णकी माधुर्य भक्तिके अनुपम ग्रन्थ हैं। महावाणीमें राधाको आराध्या मानकर उपासनाके पद गाये गये हैं, यथा--

जोई जोई करति तुम प्यारी, सोई सोई मो मन माने।
अहो विहारिनि सोइ विहारी उर प्रतीति अति आने॥
जब तुम नैक रुखाई चितवति प्रनय कोप रस साने।
श्रीहरि प्रिया स्वामिनी जिहि छिन मरोई जी माने॥

(महावाणी ६६ पद)

वल्लभ मत :

इस मतमें राधाका वर्णन रासलीला-प्रसंगमें गोपियोंके अन्तर्गत हुआ है। रासलीला-को आध्यात्मिक दृष्टिसे अन्योक्तिपरक अर्थ द्वारा समझनेके लिए कृष्णको परमात्मा तथा गोपी (राधा) को आत्मा कहा जाता है किन्तु रासलीलामें गोपियाँ रसकी सृष्टि या आविर्भावकी स्थिति सम्पन्न करानेवाली शक्तिका प्रतीक हैं। इस मतके प्रसिद्ध अष्टछाप कवियोंने गोपियों तथा राधाका वर्णन ब्रह्मवैवर्त तथा भागवत पुराणके आधारपर किया है। गोपी भावको दो रूपोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है :

ईश्वरकी आनन्दकारिणी तथा शक्ति रूपा गोपी तथा कान्ताभावसे ईश्वरकी भक्ति करनेवाली गोपी। यद्यपि वल्लभाचार्यने केवल शुद्ध दार्शनिक भाव तक ही अपनेको सीमित रक्खा था किन्तु फिर भी माधुर्यभावके क्षेत्रमें भी राधाके स्वरूपको स्थित किया है। स्वकीया-परकीयाके रूपमें अष्टछापके कवियोंने राधाको स्वकीयाके रूपमें ही चित्रित किया है। यहाँ तक कि सूरदासने तो देवोत्थान एकादशीको राधाका श्रीकृष्णके साथ विवाह तक करा दिया है। जैसा कि सूरसागरके इस पदसे ज्ञात होता है।

मानसरोवर वर्णन :

जाको व्यास वर्णित रास।
है गंधर्व विवाह चिन्तकं सुनो विविध विलास।
कियौ प्रथम कुमारि यह व्रतधर्यौ हृदय निवास॥
नंद-सुत पतिदेव, देवी पूजें मनकी आस।

श्री वल्लभाचार्यने राधाकी श्रीकृष्णसे अभिन्नता स्थापित करते हुए कहा :

यथा मधुरिमा क्षीरे स्पर्शनं भासते तथा।
गन्धः पृथिव्यां अनघः राधिकेयं तथा हरौ॥

इसी प्रकारका वर्णन सूरसागरमें भी किया है :

पुनि पुनि कहति व्रजनारि।
धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरधारि।
धन्य नंदकुमार धन्य तुम धन्य तेरी प्रीति॥
धन्य तुम दोउ नवल जोरी कोक कलानि जीती।
हम विमुख तुम करुण संगिनि प्राण एक द्वै देह॥
एक मन एक बुद्धि, एक चित दुहिन एक सनेह।
एक छिन तुम बिनहि देखे श्याम धरत न धीर॥
मुरलि मे तुम नाय पुनि प्रति कहत है बलवीर।

(पृ० २४६०)

राधावल्लभ मत :

इस मतमें राधा-कृष्ण-भक्तिको अन्यमतोंकी भाँति किसी दार्शनिक दृष्टिसे ब्रह्म, जीव, तथा प्रकृति आदिके विवेचन द्वारा स्थापित नहीं किया गया है किन्तु श्रीहित हरिवंशजी इस मतके प्रवर्तक थे, हृदय सम्बन्धी रसको अपनी भक्ति-पद्धतिका आधार बनाया है अतएव इस सम्प्रदायकी पद्धतिको रसपद्धति या रसदर्शन कहा जाता है। तथा रसकी परिणति 'नित्य विहार'में होती है। नित्य विहार शब्द इस मतमें एक ऐसा प्रगूढ़ शब्द है जो 'रस', आनन्द' या 'हित'के चरमोत्कर्षको व्यक्त करनेके लिए प्रयुक्त होता है। यह एक विलक्षण कोटिका रस है जो साहित्य शास्त्र तथा भक्ति शास्त्रमें वर्णित विविध रसोंसे सर्वथा पृथक् है।

इस मतमें 'रसो वै सः' की स्थिति श्रीकृष्ण तक ही स्वीकार नहीं की गयी किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण भी किशोरी राधाके चरणोंमें विलुंठित होकर अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। अतएव अनिर्वचनीय साध्य तत्त्वकी सृष्टि श्रीकृष्णमें नहीं किन्तु राधामें होगी। जैसा कि राधा सुधानिधिसे कहा गया है—

रसघन मोहनमूर्तिं विचित्रकेलिमहोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरणविलोडितरुचिरशिखण्डं हरिं वन्दे॥

अर्थात् जिनका सुन्दर मयूर पंख निर्मित मुकुट श्रीराधाके चरण कमलोंमें लोटता रहता है तथा जो विचित्र केलि-महोत्सवमें उल्लसित है, उन रसघन मोहनमूर्ति श्रीहरिकी मैं वंदना करता हूँ।

इस प्रकार हरि श्रीकृष्णकी आराधनीया राधा ही इस मतसे आराध्या हैं। तथा श्रीकृष्णको 'परतत्त्व' न मानकर राधाको ही 'परतत्व' रूपमें स्वीकार किया गया है। श्रीकृष्ण राधाकी स्तुति और चाटुकारी करके अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। श्रीहित हरिवंश जीने 'हित चौरासी' में राधाके अलौकिक दिव्यस्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है :

सुनि मेरो वचन छबीली राधा, तैं पायो रससिंधु अगाधा।
तू वृषभानु गोप की बेटी, मोहनलाल रसिक हँसि भेंटी।
जाहि विरंचि-उमापति तापे, तापै तू बन-फूल बिनापे।
जो रस नेति नेति श्रुति गायौ, ताकों तैं अधर सुधारस चाख्यो।
तेरो रूप कहत नहि आवै, हितहरिवंश कछुक जस गावै।

माध्व गौड़ेश्वर मत

यह मत माध्व मतकी ही एक परवर्ती शाखा है या उसका विकसित रूप है। यही कारण है कि इसे माध्व गौड़ेश्वर या चैतन्य मतके नामसे अभिहित करते हैं। बंगालमें कृष्णभक्ति और राधातत्त्वके प्रवर्तक माध्व सम्प्रदायके दाक्षिणात्य संन्यासी श्रीमाधवेन्द्रपुरी माने जाते हैं। उन्हींकी शिष्य परम्परामें चैतन्यदेव जी आविर्भूत हुए, जो राधावादके प्रधान

प्रेरक तथा राधाभावमें अहर्निश मग्न रहा करते थे। चैतन्यमतका राधातत्त्व मूलतः दाक्षिणात्य विचारधारासे अनुप्राणित है, साथ ही बंगालके व्यापक शाक्त धर्मसे भी प्रभावित है। चैतन्य देव द्वारा चण्डीदासकृत **'सहजियामतावलम्बी'** परकीया प्रेमको मान्यता प्रदान करनेसे और भी अधिक बल मिला है। संसारके शाश्वत सम्बन्धोंमें जल और मीनका उदाहरण प्रसिद्ध है। राधा उसी उपमानको अपने प्रेम प्रसंगमें उद्धृत करती हुई कहती है :

जल बिन मीन कबहुँ न जीये, मानुखे ए मन प्रेम कभु ना देखिए।

चण्डीदासने विरहासक्तिके द्वारा राधाका जो रूप प्रस्तुत किया है वह 'व्रजबुलि साहित्य'का प्राणाधार है। राधाके इस प्रकारके स्वरूप-विवेचनमें उन्होंने परकीया नायिकाका वह रूप रखा है जो उत्सर्ग तथा समर्पण द्वारा अपने प्रियतम नायकमें सब कुछ देखती और पालना चाहती है।

गौड़ीय षट् गोस्वामी जब वृन्दावनमें आये, उसी समय श्रीवल्लभाचार्य, हितहरिवंश तथा स्वामी हरिदास आदि अपने भक्ति सम्प्रदायोंका प्रचार कर रहे थे। इन वैष्णवाचार्योंने जिस राधा तत्त्वका प्रचार किया उस पर शैव, शाक्त, तन्त्रोक्त शक्तिवादका प्रभाव नहीं था। यह कथन निर्विवाद है। क्योंकि उस समयके निर्गुण सगुण दोनों प्रकारके वैष्णव सन्तोंने शाक्त धर्मके प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है। चैतन्य मतमें कृष्णदास कविराजने राधा-तत्वका विस्तारसे वर्णन किया है। उनका कथन है कि सच्चिदानंदस्वरूप श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्तिका नाम ही प्रेम है, जैसा कि वे चैतन्यचरितामृतमें लिखते हैं :

ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेमसार भाव,
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।
महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठकुरानी,
सर्वगुण खनि कृष्णकान्ता शिरोमणी।
कृष्ण प्रेमे भावित जार चित्तेन्द्रिय काय,
कृष्ण निज शक्ति राधा क्रीड़ार सहार॥

राधा पूर्ण शक्ति है और कृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं। इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। यह शास्त्रोंसे प्रमाणित है। राधाकृष्ण सदैव एक स्वरूप हैं। ये लीलारसके लिए दो रूप धारण करते रहते हैं :

राधा पूर्ण शक्ति कृष्ण पूर्ण शक्तिमान,
दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्रेर प्रमाण
राधाकृष्ण एछे सदा एकइ स्वरूप,
लीला रसे आस्वादिते धरे दुइ रूप।

चैतन्य मतकी परकीया भक्ति राधा और गोपियोंके कृष्ण-प्रेमपर आधारित है। कृष्णदास कविरायका कथन है कि परकीया भावमें रसका अधिक उल्लास है किन्तु वह व्रजसे अन्यत्र संभव नहीं है। व्रजकी गोप-वधुओंमें यह भाव नित्य विद्यमान है और राधाभावमें इसकी परमावधि है। यथा चैतन्यचरितामृतमें :

परकीया भावे अतिरसेर उल्लास,
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास।
व्रजवधू गणेर एइ भाव निरवधि,
तारमध्ये श्रीराधार भावेर अवधि।

चैतन्यदेवके आदेशानुसार जब गौड़ीय गोस्वामीगण व्रज-वृन्दावनमें आये थे तब वहाँके वैष्णव सम्प्रदायोंमें भी प्रेम-भक्तिकी धारा प्रवाहित हो रही थी किन्तु वह बंगालकी परकीया भक्तिसे भिन्न स्वकीया-भाव-प्रधान थी। व्रजके समस्त वैष्णव सम्प्रदायोंमें राधाजीको स्वकीया माना गया है। गौड़ीय वैष्णवगण यद्यपि बंगालके परकीयावादसे प्रभावित थे तथापि व्रजकी स्वकीया भावनाके कारण वे अपने ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे परकीया तत्त्वका समर्थन नहीं कर सके। व्रजभाषाके प्रसिद्ध वाणीकार रामरायने 'आदि वाणी' नामक ग्रन्थमें प्रिया-प्रियतमके स्वरूपका इस प्रकार साक्षात्कार कराया है :

आज किशोरी लेत हिलोर।
नैक समात न हिये रसिकनी, मिली जु नवल किशोर॥
सिर सीमंत कुसुम लट अटपट, बिकिरत चारों ओर।
अरुन नैन आलस बस विथकित, पीक कपोल अथोर॥
सुरति रंग में रँगी रँगीली, लूटे निज चित चोर।
डगमगात पग धरत गहि लई, 'रामराय' पट छोर॥

गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा परकीया प्रेमका इस प्रकारका वर्णन करना सिद्ध करता है कि वे व्रजके स्वकीय-प्रधान वातावरणके कारण ही परकीया भावको मध्यम मार्गका रूप देनेके लिए विवश हुए थे। जैसा कि जीव गोस्वामीने 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थमें लिखा है :

स्वेच्छया लिखितं किंचित् किंचिदत्र परेच्छया।
यत्पूर्वापरसम्बन्धः ततः पूर्वापरं परम्॥

अर्थात् परकीया भावकी भक्तिको तो मैं स्वेच्छासे लिख रहा हूँ किन्तु अन्य मत जो स्वकीया भावके उपासक हैं, उनके विषयमें भी कुछ समर्थन दे रहा हूँ। अतएव पूर्वापर सम्बन्धको इसी कोटिमें घटित करना चाहिए। उक्त कथनसे सिद्ध है कि मूर्धन्य विद्वान् जीव गोस्वामी भी परकीयाभावका ही वैशिष्ट्य रूपसे कथन करते है।

भगवान् चैतन्यदेवके अवतार लेनेके दो कारण बताये जाते हैं—(१) हरिनाम संकीर्तनका प्रचार और (२) राधाभावसे प्रेमरसका आस्वादन। कृष्णदास कविराजने राधाभावपर विशेष जोर देते हुए चैतन्यदेवके राधा-कृष्ण युगल रूपमें अवतरित होनेपर यह मत प्रकट किया है जो स्वरूप दामोदर स्वामीके 'कड़चा'के द्वारा ज्ञात होता है :

श्रीराधायाः प्रणतमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।

सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेत्ति लोभात्
तद् भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः ॥

तात्पर्य यह है कि जिस प्रेमके द्वारा मेरी अद्भुत मधुरिमाका राधा आस्वादन करती है, वह प्रणय-माधुर्य कैसा है और राधाके प्रणय द्वारा आस्वादित वह मेरी मधुरिमा कैसी है तथा इसके अनुभवमें राधाको जो सुख होता है, वह कैसा है। इसी लोभसे शची माताके गर्भ-सिन्धुसे चैतन्य-चन्द्रने राधाभावसे जन्म लिया।

आगे राधा-भावके सम्बन्धमें चैतन्यचरितामृतमें कहा गया है कि राधा-भाव ही महा-भाव है, जिसकी प्राप्ति साधन-भक्तिके अनेक भाव यथा रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भावके पश्चात् ही सम्भव है।

अतः हम कह सकते हैं कि चैतन्य मतमें माधुर्य भक्तिरसका जितना विशद वर्णन किया गया है उतना अन्य वैष्णव सम्प्रदायोंमें दुर्लभ है।

इस मतमें भक्तिरसका साक्षात् परमेश्वरके रूपमें तथा अनन्यभावका राधाभावके रूपमें वर्णन किया जाता है। इस सम्प्रदायके मतावलम्वी कहते हैं कि जैसे अग्निके स्फुलिंग धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते आगे चलकर अग्निको पूर्ण विकसित कर देते हैं तथा उसको धूम-विहीन रक्तिम वर्ण बना देते हैं, उसी प्रकार गौड़ीय मतमें आकर वैष्णव भक्तिने अपना अत्यन्त उज्ज्वल रूप ग्रहण कर लिया है, जो राधा-भावको प्राप्त होकर और उत्कृष्ट बन गया है। अतएव ज्ञात होता है कि 'राधा'का स्वरूप चैतन्य मतमें केवल एक भावविशेषका प्रदर्शक है जिसकी प्राप्ति भक्तको माधुर्यभावसे ही सम्भव हो सकती है।

गूँजा मधुर मनोरम गीत ★ 'राम'

कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें, रणवाद्योंके रव भीषणमें।
विजय-केतुओंके नर्तनमें सुन्दर छिड़ा सरस संगीत ॥ १ ॥
श्रुतिकी वाणी चकित हो उठी, मुनियोंकी मति थकित हो उठी।
रथी जीवसे सारथि ईश्वर, बोल उठा "सुन लो हे मीत ! ॥ २ ॥
नश्वर काया निपट अचेतन, अजर-अमर आत्मा है चेतन।
सतत सनातन वर्तमान वह, नहीं अनागत और अतीत ॥ ३ ॥
कर्म करो हो चाह न फलकी, देखो आज न सोचो कलकी।
समताका सर्वत्र भाव हो, संतत रहो असंशय-चित्त ॥ ४ ॥
दैवी त्रिगुणमयी मम माया, सबने दुस्तर इसे बताया।
किन्तु शरण मेरी लेनेसे, गह लेती गोपदकी रीत ॥ ५ ॥
निशि दिन मेरे ही गुण गाकर, काम-क्रोधको दूर भगाकर।
वशमें करले मन-इन्द्रिय जो, होती सदा उसीकी जीत ॥ ६ ॥
सब धर्मोंकी आशा छोड़ो, केवल मुझसे नाता जोड़ो।
हर लूँगा सब पाप-ताप मैं, करो न शोक कदापि सभीत" ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण-कथा : ४

श्रीकृष्णचन्द्र

श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'

★

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥—गीता

भगवान् अनन्तके पश्चात् तो उन अनन्तशायीको ही आना चाहिये न! वसुदेवजी ध्यान कर रहे थे। कंसके कारागारके वे बन्दी थे और थे भी बन्दीगृहमें ही, लेकिन वे अन्ततः महाराज उग्रसेनके जामाता थे। कंसने उन्हें तथा देवकीको शृङ्खलाएँ (बेड़ियाँ) पहिना दी थीं; किन्तु उनकी सुविधाका प्रबन्ध भी बन्दीगृहमें था। अवश्य ही वह प्रबन्ध बन्दीगृहका था, पर वसुदेवजी अपनी पत्नीके साथ अपने उस बन्दीकक्षमें एकाकी ही रहते थे। कंसके द्वारपाल भी वहाँ प्रवेश नहीं कर सकते थे। उनकी सेवा आदिकी समुचित व्यवस्था थी।

हाँ—वसुदेवजी ध्यान कर रहे थे अपने आराध्य भगवान् अनन्तशायी नारायणका। आज भगवान् नारायण जैसे प्रत्यक्ष हो गये हैं। उन शङ्ख-चक्रधारी प्रभुके करोंमें यह एक काला केश—केश तो उन करोंसे छूटा और यह आया—आया और जैसे वसुदेवजीके मुखमें प्रविष्ट हो गया हो। हैं—चौंके वे ध्यानस्थ! हृदयमें एक साथ मानों सहस्र-सहस्र आदित्य उदित हो गये हों। वह महाज्योति और उसके मध्य पीताम्बर-परिवेष्टित सायुध चतुर्भुज सजल-जलद-नील भगवान् नारायण—वसुदेवजी स्थिर हो गये, मन डूब गया। उन्हें पता नहीं कि उनकी पत्नी कितनी भक्तिसे उन्हें प्रणाम कर रही हैं। उनके पतिदेवमें यह जो सहसा महाप्रकाश प्रकट हो गया—देवकीको आश्चर्य नहीं हुआ। उन्होंने तो सदासे अपने पतिको परमात्मरूप ही माना है। आज कृपा करके अपना वह रूप प्रकट किया उन्होंने।

'वसुदेवजी!' कंस सेवकोंसे समाचार पाकर कारागारमें आया; किन्तु वसुदेवजीके सम्मुख तो सम्बोधन भी अधूरा रह गया। उसके महाशूर रक्षकोंने समाचार दिया था कि 'वसुदेवजीकी ओर तो वे अब देखनेका ही साहस नहीं कर पाते। पता नहीं क्या हो गया है, उनके सम्मुख आते ही हृदय बैठने लगता है। अब यदि वे कारागारसे बलपूर्वक निकलना चाहें तो उन्हें रोका नहीं जा सकता।' कंस क्या कहे, क्या करे—उसकी बुद्धि जैसे है ही नहीं। उसे लगा, वह यहाँ ठहर नहीं सकता। उसने अपने सम्बोधनका उत्तर पानेकी भी

प्रतीक्षा नहीं की; जैसे आया था, लौट गया। इतना तेज—जैसे दूसरे सूर्य ही भूमिपर आ गये हों! कैसे कोई ठहरे उनके सम्मुख।

'कल व्यवस्था करूँगा, तब तक सावधान रहो! द्वार सब बन्द कर दो भली प्रकार।' कंसने सेवकोंको आदेश दिया। उसे सोचनेको अवकाश चाहिए। वसुदेवजी तो सबके लिए दुर्धर्ष हो गये हैं। अब उन्हें कैसे नियन्त्रित रक्खा जा सकता है।

वसुदेवजी—वे तो जैसे किसी दूसरे लोकमें पहुँच गये हैं। यह लोक, यह वन्दीगृह, यह कंस और उसके सेवक—जैसे वे कुछ नहीं देखते। वह सान्द्रघनद्युति पीताम्वरधर चतुर्भुजमूर्ति, वह महाज्योतिर्मय साकार आनन्दघन—वह उनके हृदयमें स्थिर हो गया है। वे उसी आनन्दमें निमग्न हैं। क्या करते हैं, क्या करना है, जैसे कुछ पता नहीं उन्हें।

श्रीदेवकीजीने पतिको देखा—वे श्रीशूरसेन-तनय—उनके सम्पूर्ण शरीरके रोम खड़े हो गये हैं, उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु झर रहे हैं, वे जैसे सारे कार्य परप्रेरित कर रहे हों और उनके अङ्गोंसे जो यह परमतेज वन्दीगृहको प्रकाशित करता निकल रहा है—अत्यन्त संयत चित्तसे, श्रद्धापूर्वक देवकीजीने पतिके करोंको अपने करमें लिया और……और वे स्वयं उसी आनन्दमें निमग्न हो गईं। पारसको स्पर्श करके सुना है लोहा स्वर्ण हो जाता है; किन्तु उस नील पारसका स्पर्श पारस ही कर देता है। हृदय-कमलको कर्णिकापर वह नीलोज्ज्वल विद्युद्वसन शङ्ख-गदा-चक्र-पद्मधारी चतुर्भुज किशोरमूर्ति मन्द-मन्द हँसती सी खड़ी है। जैसे एक आनन्दकी धारा पतिदेहसे अपने देहमें मनको गतिसे आयी और वह हृदयमें घनीभूत होकर मूर्त हो गयी। देवकीजी स्थिर हो गयीं।

वसुदेवजी जैसे समाधिसे उत्थित हुए हों। उन्हें अबतक सचमुच यह सब दृश्य दीखकर भी नहीं दीखा था। अब वह महानन्दमूर्ति उस रूपमें हृदयमें नहीं। वह तो शम्पाकी भाँति चमकी और वह गयी—वह तो गयी और नेत्र पत्नीके मुखपर स्थिर हो गये। यह स्निग्ध प्रकाश—अन्तर के उस प्रकाशकी एक झलक जिसे मिलती है, वह तो युगों तक उसे भूल ही नहीं पाता। वही तो अब इस मुखसे निकलने लगा है।

'सर्वेशने मुझे पिताका गौरव दिया और अब यह माता बन गयी है!' वसुदेवजीको कुछ समझना-समझाना नहीं था। जो उनके अन्तरमें स्थिर—मूर्त रहा है, उसकी आलोक-रश्मिकी छाया पाकर भी कुछ अज्ञात या अज्ञेय नहीं रहता।

'यह शोभा, यह स्निग्ध आलोक!' वसुदेवजी देखते रहे। 'वे जगदाधार जगन्निवास इस मन्दिरमें आ विराजे हैं। जगत् पवित्र हो जाता इस लोकोत्तर छटासे।' एक बार दृष्टि इधर-उधर गयी। यह प्रसाधन, यह वन्दीगृह—भला यहाँ क्या शोभा—यहाँ क्या विकास उस सौन्दर्यराशिका। जैसे अग्निकी शिखा रोक दी गयी हो भस्मके आच्छादनमें।

× × × ×

कंसको रात्रिमें निद्रा नहीं आयी—'वसुदेवका क्या हो?' वह कोई मार्ग नहीं पाता। प्रातःकाल उसे कारागार आये बिना चैन कहाँ। वह किसीसे कैसे कहे कि वसुदेवजीको वह

अब दबानेमें अपनेको असमर्थ पाता है। कारागारपर सभी असुर नायक नियुक्त हैं; पर वे क्या पर्याप्त हैं ? यदि वसुदेवजी इस समय शस्त्र लेकर विरोध करें—शस्त्र तो ये सहज ही किसी के हाथसे छीननेमें समर्थ लगते हैं।

'अच्छा !' कंसने कारागारमें आकर जो देखा, उससे उसका आश्चर्य दूर ही हुआ। वसुदेवजीमें वह तेज नहीं जो कल था; पर तेज कहीं गया नहीं। यह तो अब भी है। यह क्या ?—देवकीके शरीरसे वही तेज निकलकर सम्पूर्ण बन्दीगृहको प्रकाशित कर रहा है। 'यह दीना, दुःखिनी देवकी और इसके मुखपर कैसा पवित्र उज्ज्वल स्मित है ! मुझे देखकर भी इसे न तो भय लगता और न यह चौंकी। ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ। यह तो मुझे देखते ही भयसे काँपने लगती थी, पीली पड़ जाती थी और इसके कण्ठसे शब्द नहीं निकल पाता था। इतना प्रकाश मनुष्यमें तो होता नहीं। इस देवकीमें तो ऐसा भाव कभी नहीं आया। यह कभी ऐसी नहीं रही।' कंस देखता रहा—देखता रहा दो क्षण और तब भयसे स्वतः उसके पद पीछे हट गये। वह काँप गया।

'हरि—मेरा वह प्राणघातक शत्रु निश्चय इसकी हृदय-गुहामें आ गया !' कंसने इधर-उधर देखा, कोई नहीं आया उसके साथ। कुछ भी हो, यह बन्दीगृह उसकी बहिनका अन्तःपुर है। उसीने तो आदेश दे रक्खा है कि कोई उसके साथ भी भीतर न आये। शत्रु आ गया—सामने आ गया ! इस देवकीकी हृदयगुहामें ही तो है ! कंस—मनस्वी कंस क्या भाग जाय ? हृदयगुहामें—तब वहीं उसे मार दिया जाय ? उसका हाथ खड्गकी मूठपर गया। कह नहीं सकते भयसे आत्मरक्षाके लिए या आघातकी भावना लेकर।

'कहीं मैं प्रहार करूँ और वह व्यर्थ हो जाय !' उसे स्मरण आया कि प्रह्लादपर हिरण्यकशिपुके समस्त प्रहार व्यर्थ हो गये थे। हाथ जहाँ-का-तहाँ रह गया। मस्तक झुक गया। वह सोचने लगा—'इसमें तो सन्देह नहीं कि मेरा प्राणहर्ता शत्रु ही इसके हृदयमें है; पर इस समय करना क्या चाहिए ? मेरा पराक्रम यदि व्यर्थ हो जाय—मेरी शक्तिकी धाक ही नष्ट हो जायगी। असुर सहायकोंका क्या ठिकाना और यदुवंशी तो अवसरकी प्रतीक्षामें ही हैं। धाक गयी और···नहीं, ऐसा उपाय होना चाहिए कि पराक्रम व्यर्थ न जाय।' उपाय कहाँ मिला रहा है मनको।

'यह स्त्री है, मेरी छोटी बहिन है और उसपर भी गर्भवती है ! यदि मैं इसे मार दूं, मेरा यश नष्ट हो जायगा ! मेरी बड़ी निन्दा होगी।' मन पराजय मानना जानता ही नहीं और वह भी आसुर मन। कंसके मनने अपनी दुर्बलताका रूप परिवर्तित किया—मार तो देगा; भला, उसका पराक्रम कैसे व्यर्थ होगा, पर—भीतरकी आशङ्का ही यह 'पर' बन गयी है।

'लोग निन्दा ही तो करेंगे, कर लेंगे और जिसमें शक्ति है, उसकी निन्दा करनेका साहस कौन करेगा; पर······' अन्तरमें जो भय है, वह आघात करनेके स्थानपर पहुँचाकर हटा देता है। 'ऐसा कर्म तो घोर पाप है। इससे तो ऐश्वर्य—लक्ष्मी भी तत्काल नष्ट हो जाती

है। जिस ऐश्वर्यके लिए सब उद्योग है, यदि वही न रहे तो···।' विचार बड़ी तीव्रतासे चल रहे हैं। जैसे मस्तकमें अन्धड़ चल रहा हो।

'लक्ष्मी कैसे चली जायगी !' ठींक तो है, जो देव-विजयी है, जो हरिको नष्ट करने जा रहा है, उसके ऐश्वर्यको लोप करनेका साहस कौन-सी देवशक्ति करेगी। 'यदि तत्काल यह हरि प्रकट हो जाय और मार डाले ? आयु भी समाप्त हो जायगी आज हो !' सचमुच यह तो बड़ी भयङ्कर बात है। मायावी हरिका क्या ठिकाना। वह प्रह्लादके लिए पत्थरके खम्भेको फाड़कर निकल पड़ा था और यहाँ तो हृदयगुहामें है ही। इस प्रकार सहसा मृत्युको आमन्त्रण देना तो बुद्धिमानी नहीं है।

'अच्छा, इस विचारीको जीने दो अभी। अत्यन्त नृशंस बर्ताव अच्छा नहीं; क्योंकि मरनेपर ऐसे नृशंसको लोग गाली देते हैं और निश्चय ही ऐसा शरीराभिमानी घोर नरकमें जाता है।' जैसे शिशुओंकी हत्या तो नृशंसता नहीं थी और लोग उससे मरनेपर प्रशंसा करेंगे। अपनी दुर्बलता, अपने भयको अहंकारी मानव इसी प्रकार उन्नत रूप देकर अपनेको ही धोखा दिया करता है।

कंसने किसीसे कुछ कहा नहीं। वसुदेवजी एक बार उसे खड्गपर हाथ ले जाते देख चौंके थे। वह महापिशाच—उसके लिए कुछ अकार्य नहीं और वह आघात करता तो रोकने में समर्थ भी कौन था। लेकिन अपने-आप ही वह तर्क करता रहा। निखिललीलामयी योग-माया उसकी बुद्धिका भी तो सञ्चालन करती हैं। मस्तक झुकाये हुए ही वह लौटा कुछ सोचता-सा और द्वारसे बाहर हो गया। किसके सिर भूत चढ़ा है जो इससे बोलने जाय।

× × × ×

माता देवकी तो विश्ववन्द्य हो गयी हैं। उन निखिलदेवमयकी समस्त देवता नित्य ही स्तुति करते हैं। वे देखती हैं और जानती भी हैं—'ये चार मुखके अरुणवर्ण लोकस्रष्टा, ये त्रिनयन नीलकण्ठ अहिभूषण शशाङ्कशेखर, ये वज्रधर देवराज, ये दण्डपाणि महिषवाहन।' वे भले सबको पहिचानती न हो, इन प्रधान देवताओंको तो जानती ही हैं। वे सब प्रकाशरूप, रत्नमाला, दिव्यदेहधारी लक्ष-लक्ष वाहनों, विमानोंसे आते हैं—नित्य गगनमें दूर विमान छोड़-कर वे आकर उनको बद्धाञ्जलि मस्तक झुकाते हैं। पता नहीं क्या-क्या स्तुति-सी करते हैं और प्रदक्षिणा करके तब बड़ी नम्रतासे जाते हैं।

वसुदेवजी देखते हैं कि सहसा दिव्यगन्ध बार-बार प्रकट होती है। बार-बार कक्ष दिव्य सुमनोंसे पूर्ण हो जाता है। उनको कोई आश्चर्य नहीं। 'नारायण उनके यहाँ आ रहे हैं !' उन्हें विश्वास है और पत्नीके कुतूहलको उन्होंने शान्त कर दिया है। अब कंस सदाकी भाँति नहीं आता। द्वार-रक्षाका प्रबन्ध कठोर हो गया है। द्वार सदा बंद ही रहता है। अब कोई उनसे मिलने भी नहीं आ पाता; किन्तु मनमें अज्ञात रूपसे एक अद्भुत आश्वासन—आनन्दका भाव आ गया है। पत्नी तो सदा किसी दूसरे लोकमें रहने लगी हैं। वे तो जैसे अब जानती हो नहीं कि वे कहाँ हैं। एक अतर्क्य आनन्दका भाव—कभी-कभी कंसका स्मरण

आता है और तब दोनों चौंक पड़ते हैं; किन्तु जैसे दूसरे ही क्षण सब भूल जाता है। कोई है, कोई अज्ञात रूपसे साथ लगा रहता है सदा और उसकी शक्ति रक्षा करनेको नित्य उद्यत है--हृदयको पता नहीं क्यों, यह निरन्तर अनुभव होता है और उस शक्तिको वे जानें या न जानें; उस अज्ञेय अज्ञातके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहा है।

ये लोकपितामह—ये तो झूठ नहीं बोलते। ये तो प्रायः नित्य जाते-जाते कह जाते हैं, आश्वासन दे जाते हैं—'यह हम सबोंका परम सौभाग्य है कि साक्षात् परम-पुरुष भगवान् आपकी कुक्षिमें पधारे हैं। वे हमारे कल्याणके लिए ही आये हैं। यह कंस—यह भोजवंशका अधिपति तो अब मरने ही वाला है, आप इससे भय न करें। अब तो आपके ये तनय यदुवंशकी रक्षा करेंगे!' ये भाग्यविधाता—ये स्वयं ऐसा कहते हैं तो बात ठीक ही होनी चाहिए!

× × ×

भाद्रपदकी वह अन्धकारमयी रजनी--जैसे असुरोंके अत्याचारके तमस्में सत्व तिरोहित हो गया और जगत्की वह वस्तुस्थिति मूर्त हो गयी। ठीक आधीरात--अत्याचारकी शक्ति अपनी पूरी प्रबलतामें। प्रकाशकी एक किरण नहीं--आशाकी एक रेखा नहीं। समस्त जगत् गाढ़ निद्रामें निमग्न--जैसे सम्पूर्ण विवेकशक्ति मोहाच्छन्न हो गयी हो। जब भी कोई हृदय इस प्रकार सर्वथा आशाहीन--निरुपाय, मोहम्लान होता है और उसका अन्तःकरण अपनी अन्तश्चेतनाके साथ बन्दी हो उठता है--प्रकाशके अप्रतिहत प्रादुर्भावका वही क्षण है—वह प्रकाश जो फिर आच्छन्न नहीं होता। मानसमें जो सत्य है—जगतीके जीवनमें भी वही सत्य है। समस्त देव-शक्तियाँ जब निरुपाय हो जाती हैं, जब समस्त सात्विकभाव तामससे आच्छन्न हो जाते हैं—वही अवतारका स्वर्णक्षण बनता है विश्वमानसमें।

भाद्रपद कृष्णपक्ष, अर्धरात्रि, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र, सिंहस्थ सूर्य और—और मेरे बसकी बात नहीं, 'शान्तर्क्षग्रहतारकम्' तथा 'सर्वे नक्षत्रताराद्या चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम्'। जो नित्य सबसे प्रदक्षिणा प्राप्त करता है, उसकी न सही, ग्रहादिने उसके जन्मकालको ही दक्षिण कर लिया। भाद्रपदकी रात्रि; पर आकाश स्वच्छ, निर्मल, एक-एक तारक पूर्ण प्रकाशित, दिशाएँ स्वच्छ और वायुमें झंझावेगके स्थानपर मन्द मत्त गति, वर्षाकी बढ़ी नदियोंका जल सहसा सुनिर्मल हो गया और रात्रिमें भी कमल खिल उठे, भ्रमर गुंजार करने लगे। वनमें नीड़में सोये पक्षी जगे और आनन्दसे चहकने लगे, जैसे प्रकृतिके अज्ञात करोंमें जो आनन्दवारिधिका उन्मद सत्व आया है, उसने तामसको पी लिया। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, श्रान्ति—पता नहीं कहाँ गया सब। जलमें सरोज, उत्पल, कुमुद—सब साथ खिले और भ्रमरोंने गुंजारसे उनकी सुरभिको संगीत दिया तो वनमें पादप, विरुध्, लता, तृण—सब एक साथ किसलय, दल, पुष्प, फलोंसे झूम उठे। मधु धाराएँ चलने लगीं उनसे और पक्षियोंके गानने उनके मूक उल्लासको वाणी दे दी। वर्षोंसे भस्मपूरित थे आहवनीय कुण्ड, कंसके त्रासके कारण भगवान् हव्यवाहन समिधाओंकी भी आहुति न पाकर अन्तर्हित हो गये थे। एकाएक

द्विजातियोंके नेत्र आनन्दाश्रुओंसे पूरित हो गये जब उन्होंने देखा कि उनके अग्निकुण्डोंसे लाल-लाल लपटें उठ रही हैं, अग्निदेव स्वयं प्रकट हो गये हैं। दिशाओंमें यह जो सुरभि पूर्ण हो गयी है—अभी तो कहीं आहुति पड़ी ही नहीं, पर आजकी यह सुगन्ध क्या आहुतिकी है ? गोष्ठमें गायोंने हुंकार की और उनके स्तनोंसे धाराएँ चलने लगीं।

वह आ रहा है—वह विश्वके अन्धकारका शाश्वत प्रतीकार आ रहा है। वह आ रहा है कंसके बन्दगृहमें; पर क्या उसके आगमनका स्वागत-समारोह वन्दी हो सकता है ? जगत्के वे नित्य-पूज्य बन्दी दम्पती—कंसकी क्रूरता उनके उत्साहके आरम्भको ही रोक सकती है; किन्तु यदि दिन होता—जगत्के नेत्र देख लेते कि जैसे सम्पूर्ण मधुवन ही स्वस्तिक, सर्वतोभद्रादि मङ्गल मण्डलोंसे स्वतः सुसज्ज हो गया है। तृणदल, पुष्प, मणियोंके मञ्जु योगसे आविर्भूत ये दिव्यमण्डल, गिरिशृङ्ग जैसे दीपाधार हो गये हैं। आलोककी पंक्तियाँ, मण्डल, रेखाएँ नहीं हैं उनपर—उनपर तो ज्योतिर्मयी मणियोंका इतना प्रचुर प्राकट्य हुआ है कि वे प्रज्वलित प्रकाशस्तम्भ हो रहे हैं। इतना आमोद, इतना आनन्द क्या कोई उत्सव दे सकता है—यह जो हृदयको, मन को, प्राणको अपनेमें निमग्न करता कोई अपूर्व आनन्दवारिधि अन्तरसे अकस्मात् उमड़ पड़ा है, प्रत्येक असुरद्रोही साधु अन्तःकरण में। असुर—अभी उनकी चर्चा व्यर्थ है। जैसे जगत्का सम्पूर्ण तमस् वहीं घनीभूत हो गया है। अन्तरिक्षमें कोई अज्ञात लीलामयी कुछ कर रही हैं—असुर-हृदय अमङ्गलकी अनुभूतिके भी अभी योग्य नहीं। अभी तो वहाँ जड़ता, अज्ञान, घोरनिद्राका साम्राज्य है। जो अपार आनन्द विश्वमें उमड़ पड़ा है, आसुर तमसाच्छन्न अन्तःकरण उसे निद्राके आनन्दके रूपमें ही पा सकता है। वे सो रहे हैं—घोर निद्रामें सो रहे हैं और सो तो गया है नित्य-उद्विग्न, नित्य-भयातुर कंस। इस उन्मद आनन्दने उसे भी प्रसुप्त कर दिया है।

पृथ्वीका यह सौभाग्य ! किन्तु जो धराका भारहर्ता है, वही तो अमरोंका त्राता भी है। धराका मङ्गल ही तो अमरावतीका मोद है। मर्त्यकी शान्त श्रद्धा ही तो देवताओंकी पुष्टि होती है। पृथ्वीके इस आमोदमें गगन क्या पृथक् रह सकता है ? फिर उस सर्वेशके स्वागतका सौभाग्य सत्त्वके अधिष्ठाता कैसे छोड़ दें, जब वह उसी सत्त्वकी प्रतिष्ठाके लिए आ रहा है ? दूर-दूर सागरतटसे मेघोंने मन्द-मन्द गर्जन प्रारम्भ किया, अमरोंकी दुन्दुभियोंने उसे द्विगुण किया। गन्धर्वोंकी वीणा झंकृत हुई। अप्सराओंका नृत्य एवं किन्नरियोंका कलकण्ठ आज सफल न हो तो होगा कब ? नन्दन-काननके दिव्यसुमन धराके स्पर्शसे धन्य होनेके लिए कारागारकी उस पावन भूमिपर अपना आस्तरण बढ़ाने लगे। देवताओंने ही पुष्पवृष्टि की हो सो नहीं, तप एवं सत्यलोकोंके सिद्धों, ऋषियों, तापसोंने भी अपनी सुमनाञ्जलि समर्पित की उस वन्दनीय बन्दीगृहके धन्य कक्षमें।

धरापर—काननमें, ग्रामोंमें, नगरोंमें, पर्वतोंपर; जलपर—सागरमें, सरिताओंमें, सरोंमें, वापियोंमें; नभपर—गगनमें, वायुमें और स्वर्गमें सब कहीं उमंग, उल्लास, आमोद-विलास जैसे उमड़ पड़ा है। वह आ रहा है—वह आनन्दसिन्धु आ रहा है। वह अनन्तशायी

अपनी परमोज्ज्वल विभूतिका वैभव लिये इस अन्धकारमयी अर्धनिशामें ही आ रहा है तो यह सत्त्वका उद्दाम उद्रेक कैसे सीमित रहे? वह कृष्णचन्द्र—वह लीलामय हैं ही समस्त विषमताओंका अद्भुत एकीभाव! वह आ रहा है और यह अन्धकारमें उल्लास, रात्रिमें तमस्का अभाव और इस अपार असीम सत्वोद्रेकमें भी असुरोंकी घोरनिद्रा, जडता! वह नित्य अद्भुत, नित्य विचित्र जो आ रहा है।

× × ×

अर्धरात्रि—ठीक अर्धरात्रि और वह प्राची-क्षितिजपर प्रकाशका ज्योतिर्बिम्ब आया। वह भागा अन्धकार, वे दिशाएँ शीतल स्निग्ध प्रकाशमें आलोकित हुईं। वह आया जगतीके अन्धकारको भिन्न करता मानवकी युग-युगकी आशाका चिन्मय आलोक! वह धन्य हुई जगन्मानसकी नित्यप्राची जगज्जननी माता देवकी। वह क्रूरताके कारागारमें मुक्तिका अमर आलोक आया। आया वह गगनपर सुधांशुके प्राकट्यके क्षणमें; किन्तु उसकी मन्द गतिसे नहीं, एक साथ वह आलोकमय आविर्भूत हो गया। वह अष्टमीके चन्द्र-सा नहीं, वह नित्यपूर्ण, नित्य निष्कलङ्क श्रीकृष्णचन्द्र।

श्रीकृष्णचन्द्र—कमलदल-विशाल अरुणाभ लोचन, विशाल चतुर्भुज किशोर श्रीविग्रह, शङ्ख-गदा-चक्र-कमलधारी अरुण कर, वक्षपर श्रीवत्स, गलेमें कौस्तुभ, पद्मपराग-पीताभ तेजोमय पीताम्बर और स्निग्ध नीलकान्त मेघसुन्दर अंगकान्ति। वैदूर्य मणियोंका किरीट, कपोलोंपर सहस्र-सहस्र सूर्यकान्तसे झलमलाते कुण्डल, भालपर कुटिल अलकें, मणिमय जगमग करते कङ्कण, काञ्ची, केयूरादि आभरण। माता देवकीको क्या अनुभूति हुई, कैसे कहा जाय। किसी युग-युगके सन्तापतप्त परम दुःखीको सहसा उस अपार आनन्द-सिन्धुका साक्षात् हो—कैसे कल्पनामें आयेगी उसकी दशा? माताका शरीर, इन्द्रियां, मन, प्राण सब स्थिर हो गये। वह तो जैसे अन्तर्बाह्य डूब ही गयी।

श्री वसुदेवजीने देखा उस अपार आलोकको। एक बार देखा और मनमें जागृति आयी: 'ये श्रीहरि, ये मेरे पुत्र बनकर प्रकट हुए हैं! पुत्र ही तो—मेरी पत्नीके सम्मुख ही तो खड़े हैं ये! यह श्रीकृष्णावतार!' पता नहीं, हृदयमें क्या-क्या आया एक क्षणमें: 'क्या करूँ, क्या करूँ।' जैसे कुछ नहीं सूझता उन्हें: 'ये श्रीहरि–मेरे पुत्र हरि! दस सहस्र गायें ब्राह्मणोंके लिये……।' उसी उल्लासमें दस सहस्र गायें ब्राह्मणोंको दान करनेका संकल्प कर लिया उन्होंने। वे बन्दी हैं, गायें कंसने छीन ली हैं, इस समय पुत्र-जन्मोत्सव भी करनेकी स्थितिमें वे नहीं; किंतु मन क्या इस समय यह सब सोच सकता है?

'ये परमपुरुष-परमपुरुष ही तो हैं ये! ये चतुर्बाहु, दिव्यायुध, ये श्रीवत्स और कौस्तुभ तथा यह अपूर्व प्रकाश, जिससे यह प्रसूतिकक्ष आलोकमय हो उठा है। ये श्रीनारायण पधारे हैं मेरे यहाँ!'—श्री वसुदेवजी और सावधान हुए। उनके हाथोंकी अञ्जलि स्वतः बँध गयी; मस्तक झुक गया, वे गद्गद कण्ठसे स्तुति करने लगे।

'इस-प्रसूति कक्षमें इतना अपार आलोक और अब यह स्तवन!'—द्वाररक्षक सावधान रहते हैं, कंस इधर बराबर बार-बार पूछता है सेवकोंसे, उसे समाचार मिला और वह

दौड़ा। लेकिन वसुदेवजीको अब यह भय नहीं। 'यह कौमोदकी गदा, यह सहस्रार सुदर्शन—ये जो नीलोज्ज्वल तेजोमय चतुर्भुज परमपुरुष सम्मुख हैं! तुच्छ कीटप्राय कंस इनके सम्मुख? भला, भय किसका?' वसुदेवजी निर्भय स्तुति कर रहे हैं :

'मैंने जान लिया कि आप प्रकृतिसे परे अवस्थित रहनेवाले साक्षात् परमपुरुष और समस्त बुद्धियोंके द्वारा केवल आनन्दस्वरूपमें अनुभूत होते हैं। किन्तु इस निर्विशेष रूपमें ही आप हैं, यह कहते भी बनता नहीं; क्योंकि अपनी प्रकृति—योगमायासे ही इस समस्त त्रिगुणात्मक जगत्का सर्जन करके उसमें प्रविष्ट न होनेपर भी आप प्रविष्ट-से प्रतीत होते हैं!' स्तुति चलती रही, श्री वसुदेवजीकी अमल स्नेहार्द्र वाणीको वह सान्द्रनीलाभ शान्त सुनता रहा। शान्त—गम्भीर, जैसे उसका इस स्तवनसे कुछ सम्बन्ध नहीं। जैसे वसुदेवजी किसी दूसरेके सम्बन्धमें यह सब कह रहे हों। उसके नित्य प्रसन्न नेत्रोंमें करुणा, ममता, पता नहीं क्या क्या और कदाचित् जिज्ञासा भी और अधरों पर मन्दतर स्मित! पर वसुदेवजी कहाँ देखते हैं यह सब? वे तो मस्तक झुकाये शृङ्खलाबद्ध करोंकी अञ्जलि बाँधे, घुटनोंके बल बैठे, नेत्रोंसे अजस्र-प्रेमाश्रुओंकी वर्षा करते कहते जाते हैं। निर्गुण-निर्विशेष, सगुण-सविशेष, विराट् अन्तर्यामी और यह सम्पूर्ण दृश्य रूप, सबसे पृथक् और सर्वरूप तथा इन सब रूपोंका एकत्व—उस परात्पर तत्वसे ये सृष्टि-स्थिति-प्रलय और उनके अधिष्ठाता त्रिमूर्तियोंकी अभिव्यक्ति—पता नहीं क्या-क्या कहते रहे वे? वे कहते रहे और वह निखिल वाणीका एकमात्र स्तवनीय सुनता रहा। वाणीकी यही तो सार्थकता है कि उसे वह सुन ले—सुन भर ले, बस यही!

वही—वही तो सृष्टिके लिए अरुणवर्ण, स्थितिके लिए 'शुक्ल' और प्रलयके लिए नीललोहित रूप धारण करता है। वही तो इस कारागारमें प्रकट हुआ है। वसुदेवजीने भरितकण्ठ, पुलकित तन कहा : 'विभो! अखिलेश! आप इस लोककी रक्षाके लिए ही मेरे घरमें अवतीर्ण हुए हैं। ये असुर जो आज राजा कहलाते हैं, कोटि-कोटि सेनाओंके साथ इनका जो व्यूह है, इन्हें मारकर आप उसे ध्वस्त कर देंगे!'

लेकिन यह असुर-ध्वंस तो होगा, तब होगा जैसा नहीं है—उसके लिए अभीसे सावधान हो जाना चाहिए। 'यह कंस बड़ा असभ्य है यह! आप पधारे हैं, यह बात उसके ये द्वाररक्षक चर अवश्य जाकर कह देंगे और वह मेरे यहाँ आपका जन्म सुनते ही हथियार उठाकर दौड़ता हुआ अभी आयेगा। सुरेश्वर! उसने इसी प्रकार तुम्हारे बड़े भाइयोंको मार डाला है। उससे धर्मयुद्धकी आशा भी नहीं। आता ही होगा वह।'

'कंस आता होगा!'—जैसे माता देवकीकी चेतना झकझोर दी गयी हो! 'कंस!' श्री वसुदेवजीके शब्द कानोंमें गये, पलकें हिलीं और जैसे वे जाग्रत् हुई हों। लेकिन यह ज्योतिर्मय चतुर्भुज मूर्ति कोई सामान्य बालक तो है नहीं! कुछ भी हो, माता तो माता ही रहेगी। यह बालक—नहीं, कंस बड़ा क्रूर है, घोर असुर है और यह शङ्ख-गदा-चक्र-पद्मधारी—पर बालक है न यह! माताको कंससे बड़ा भय लग रहा है; किन्तु पता नहीं क्यों

उनके मुखपर पवित्र स्मित है। इस आनन्दघनका सांन्निध्य उनके भयको जैसे अभिभूत करके व्यक्त हो गया हो। श्रीवसुदेवजी हाथ जोड़े प्रार्थना कर रहे हैं, माताने भी पतिका अनुकरण किया :

'जिसे अव्यक्तरूप, परमादि, ब्रह्म, ज्योतिःस्वरूप, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामय, निरीह निर्विशेष कहा जाता है, वह अध्यात्मप्रदीप विष्णु आप ही हैं।'

'जब द्विपरार्धके अन्तमें सम्पूर्ण लोक नष्ट हो जाते हैं, जब महाभूत अपने कारणोंमें लीन हो जाते हैं, जब व्यक्त अव्यक्तमें लय हो जाता है और कालकी भी समाप्ति हो जाती है तब आप ही शेष रह जाते हैं—इसीसे आप शेषशायी हैं :'

'यह काल, जो सम्पूर्ण विश्वको प्रेरित कर रहा है, तुम्हारी चेष्टा कहा गया है। निमेषसे लेकर वर्ष एवं द्विपरार्ध आदि महत्तातक वह तुम अव्यक्त-बन्धुकी चेष्टा ही है, अतः आप कल्याणमयकी मैं शरण हूँ।'

माताके पास समय नहीं है स्तवनका और न उन्हें स्तुति-विस्तार करना है। उन्हें तो कंसका भय है—यह कालरूप कंस। वे यही कह रही हैं कि तुम कालके भी प्रेरक हो, द्विपरार्धका महाप्रलय भी तुम्हारी चेष्टा है, तुम तो तब भी शेष रहते हो। सो मैं तुम्हारी शरण हूँ। और उपाय भी क्या है इस कंसके कालरूपसे बचनेका ?

'मनुष्य मृत्युरूपी सर्पके भयसे भागते हुए किसी लोकमें जाकर भी शान्ति नहीं पाता, कहीं वह निर्भय नहीं हो पाता; किन्तु जब अकस्मात् वह तुम्हारे चरणकमलको प्राप्त कर लेता है तब स्वस्थ होकर शयन करता है। मृत्यु उससे दूर चली जाती है।'

माताका तात्पर्य बहुत स्पष्ट है। जब सभी तुम्हारे श्रीचरणोंको प्राप्त करके मृत्युसे अभय हो जाते हैं, तब तुम्हारे यहाँ आनेपर भी मृत्युका भय लगा रहे—यह ठीक नहीं; किन्तु भय अपने लिए नहीं, तुम्हारे ही लिए हैं। माता इसे स्पष्ट कर देती है :

'तुम अपने जनोंके सदासे रक्षक हो, तुम सदा उनके त्रासको दूर करते हो; अतः इस उग्रसेनके लड़केसे हमारी रक्षा करो ! एक बात और ! तुम्हारा यह रूप—यह परात्पर पुरुष रूप तो ध्यानमें ही आने योग्य है ! इसे इन स्थूल दृश्योंको देखनेवाले नेत्रोंके सम्मुख मत करो !'

बड़ी अद्भुत बात है—कंसके भयसे छुटकारा भी चाहिए और यह सहस्र चतुर्भुज रूप भी नहीं रहना चाहिए ! माताने अपना भाव स्पष्ट कर दिया कि समस्याका समाधान किस प्रकार वे चाहती हैं : 'मधुसूदन, यह मेरा भाई कंस बड़ा पापी है ! कुछ ऐसा करो कि उसे यह पता ही न लगे कि तुम्हारा जन्म मेरे यहाँ हुआ है ! मैं तुम्हारे लिए बहुत उद्विग्न हो रही हूँ, मेरी बुद्धि अधीर हो रही है !'

भला, कंससे युद्ध—माताने स्पष्ट कह दिया कि उन्हें बड़ा भय है। कुछ भी हो, उनका मातृत्व कहता है कि ये बालक ही तो है ? क्या हुआ जो चक्र और गदा लिये हैं ! कंस—भला, असुर कंससे कहीं संग्रामकी बात सोची जा सकती है ? उन्होंने बहुत विनीत

स्वरमें कातर अनुरोध किया—'विश्वात्मन्, शङ्ख-गदा-चक्र-पद्मधारी अपूर्व तेजोमय अपने इस अलौकिक चतुर्भुजरूपका झट-पट उपसंहार कर लो !'

क्या ठिकाना—बालक बड़े हठी होते हैं, यह प्रार्थना पर्याप्त न हो ! अपनेको कंससे डरकर छिपाना ये न स्वीकार करें ! कंस तो आता ही होगा ! अधिक बातचीतके लिए अवकाश नहीं । माताने झटपट बात पूरी की : 'महाप्रलयके अन्तमें समस्त विश्वको अपने शरीरमें ही शरीराकाशकी भाँति ही जो सहज धारण कर लेते हैं, वे ही परमपुरुष आप मेरे गर्भमें थे, यह मनुष्योंके लिए कैसी विडम्बना होगी, लोग क्या कहेंगे ? अतः झटपट इस रूपको छिपा लो ।'

माताने आदेश दे दिया, अब उसका पालन तो होना ही है; अतः उस नीलोज्ज्वल परमपुरुषने मस्तक झुकाया । एक बात रही जाती थी, उसे पूरा हो जाना चाहिए । वह परात्पर पुरुष आज ही माताके यहाँ नहीं आया, वह तो उन्हींका पुत्र है । गत दो जन्मोंसे उनका पुत्र होता आया है । उसने परिचय दिया, वह मेघगम्भीर वाणी गूँजी : "मातः, प्रथम (स्वायम्भुव) मन्वन्तरमें आप ही भूदेवी थीं और ये पिता थे पृश्नि । भगवान् ब्रह्माने जब आप लोगोंको प्रजा-सृष्टि करनेका आदेश दिया, तब वर्षा, अंधड़, शीत, उष्णता सहते हुए केवल सूखे पत्ते और वायुके आहारपर आप लोगोंने तपस्या प्रारम्भ की । इन्द्रियोंको संयमित करके, प्राणायामके द्वारा मनोमलको ध्वस्त करके शान्तचित्तसे मेरी आराधना करते हुए आप लोगोंने द्वादशसहस्र दिव्यवर्ष व्यतीत कर दिये । आप लोग मुझसे, केवल मुझसे ही अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहते थे । आपकी श्रद्धा, तप एवं अजस्र भक्तिसे भावित होकर मैं प्रकट हुआ और मैंने आप लोगोंसे वरदान माँगनेको कहा । आप लोग मुझसे मेरे धाम, मेरा नित्य सांनिध्य माँग सकते थे; किन्तु आपको गृहस्थ-जीवनके सुखका पता नहीं था । भगवान् ब्रह्माका आदेश रक्षित होना चाहिए था और मैं पृथ्वीपर आनेवाला ही था । मुझे ऐसे माता-पिता कहाँ मिलते ? अतः मेरी इच्छासे योगमायाने प्रेरणा की और आप लोगोंने मेरे समान पुत्र माँगा । मेरे समान पुत्र—भला रूप, गुण आदिमें मैं अपने समान दूसरा कहाँ पाऊँ ? मैं ही आपका पुत्र बना । सभी मुझे पृश्निगर्भ कहते थे ।"

माता देवकी आश्चर्यसे सुनती रहीं । ये चतुर्भुज, ये हरि उनके आज ही बालक नहीं हुए । ये उन्हींके, जन्म-जन्मसे उन्हींके बालक हैं । माताका स्नेहार्द्र कण्ठ शब्द नहीं पा सका और वे आदिपुरुष कहते ही जा रहे हैं : 'जननी, आप ही अदिति हैं और ये पिता ही महर्षि कश्यप हैं । आपने जब पृश्नि और भूसे यह कश्यप-अदितिका रूप लिया तो मैं आपके यहाँ उपेन्द्र रूपसे प्रकट हुआ । आकृतिसे वामन होनेके कारण मुझे लोग 'वामन' कहते थे । सब देवताओंके साथ ये प्रजापति कश्यप यहाँ इस रूपसे अंशरूपमें पृथ्वीपर आये हैं और आप तो देवमाताका ही एक रूप हैं । मैंने पहले वरदान देते समय ही तीन बार आप लोगोंसे 'एवमस्तु' कहा था और उसे सत्य करनेके लिए यह तीसरी बार आपके यहाँ प्रकट हुआ हूँ. माता ! मैं आपकी गोदमें शिशु बनकर जो सुख पा सकता हूँ, वह मुझे इस चतुर्भुज रूपमें

प्राप्त नहीं हो सकता। मैं शिशु ही बनता पहले ही; परन्तु साधारण शिशुरूपमें आप मुझे पहचान न पातीं कि यह वही मेरा पुत्र उपेन्द्र है। इसीसे मैंने अपना यह रूप दिखलाया। अब यदि आप लोगोंको कंससे भय है तो पिता मुझे गोकुल पहुँचा दें!'

माता-पिता देखते रहे और देखते ही रह गये। वह चतुर्भुज, सर्वाभरणभूषित, सायुध दिव्यमूर्ति एक पलमें माताकी गोदमें एक नवजात नीलोज्ज्वल शिशु हो गयी, सर्वथा सामान्य शिशु। माताने ललककर उठाया और हृदयसे लगा लिया।

'कंस आता होगा!' माताका वात्सल्य -- आज उस जगन्माताको इतना भी अवकाश नहीं कि वह अपने इस लोकलोचनाभिराम लालको भर नेत्र देख ही ले। यह नवजात—अभी स्तनोंके दूधसे वह तृप्त भी कहाँ हुआ होगा, किन्तु उसकी रक्षा करनी है। कंस – हत्यारा कंस बड़ा क्रूर है! वह आता ही होगा। वसुदेवजीने हाथ फैलाया और एक सामान्य सूपमें वस्त्रके ऊपर रखकर माताने अपना वह हृदय-धन बढ़ा दिया।

सत्य—जो सत्यस्वरूप है, सत्यका अधिष्ठाता है, सत्यके द्वारा जिसकी प्राप्तिकी इच्छा की जाती है, उसके आदेशका ही अनुगमन तो सत्य है। मानवका क्षुद्र सत्य उस सत्यनारायण-की इच्छा, आदेशकी पूर्तिमें ही तो सार्थक होता है; किन्तु वसुदेवजीके हृदयमें यह मीमांसा न तब उठी और न आगे कभी। यह तो हमारे-आपके तर्ककी तुष्टि है। वहाँ तो वह योगमाया जो नन्दव्रजमें बालिका बनी थीं, अपने अलक्ष्य करोंसे सचराचरका संचालन कर रही थीं। वसुदेवजीके हृदयसे कंसको दिये वचनका संस्कारतक उन्होंने सदाके लिए अन्तर्हित कर दिया था। यह तो एक हृदयको प्रभावित करनेकी बात थी, पर वह तो प्रभावित कर रही थीं जडको। वसुदेवजीके हाथ और पदोंकी शृङ्खलाएँ स्वतः इस प्रकार खुल गयीं, जैसे किसीने उन्हें खोल दिया हो। जब वे उस अपने हृदय-धनको मस्तकपर उठाकर चले, द्वारोंके लौहदण्ड, शृङ्खलाबन्ध, ताले, सब अपने-आप खुल गये और द्वार यन्त्रचालितके समान अनावृत हो गये। वसुदेवजी जिस प्रकृतिके परम प्रेरकको लिये जा रहे थे, प्रकृति उसे ससम्मान मार्ग न दे तो करे क्या?

वसुदेवजीने नहीं देखा कि उनकी चिरदुःखिनी अर्धाङ्गिनी कितनी उत्कण्ठा, आकुलता-से उन्मादिनीकी भाँति उन्हें देख रही है और उनके दृष्टि-पथसे दूर होते ही मूर्छित हो गयी है। उन्होंने नहीं देखा कि द्वार क्यों, कैसे खुल गये हैं। उन्हें देखनेका अवकाश ही नहीं कि उस मोहरात्रिमें वे कारागार-रक्षक खड़े-खड़े भित्तिसे लगकर, बैठे, आधे झुके या भूमिपर औंधे पड़े कैसे मोहनिद्रामें खुर्राटे ले रहे हैं और उनके शस्त्र, उष्णीष आदि कैसे अस्त-व्यस्त इधर-उधर गिर गये हैं! उन्हें तो एक ही ध्यान है—'कंस आता होगा! गोकुल जाना है, शीघ्र! शीघ्र गोकुल!'

अभी कुछ ही देर पूर्वका सुनिर्मल नभ उन सुदूर समुद्रतीरके गर्जन करते मेघोंसे आच्छादित हो गया है! उमड़ते-घुमड़ते काले मेघ। दिशाएँ अन्धकारमें डूब गयी हैं और घन-घोर वर्षा हो रही है। बार-बार घोर गर्जना होती है और क्षण-क्षणपर विद्युत् चमकती हैं।

इस सूची-भेद्य अन्धकारमें जैसे महेन्द्र अपने इस परित्राताको ले जानेवालेको प्रकाश करके मार्ग दिखा रहे हैं। और वर्षा—वर्षाका तो एक बिन्दु जल नहीं पड़ता वसुदेवजीपर। वे यदि तनिक घूमकर देख लेते, निश्चय ही स्तब्ध रह जाते। यह हिमधवल महाभोग, यह मणि-मण्डित सहस्र-फणराजि, ये भगवान् शेष अपने फणोंका छत्र उनके मस्तकपर किये उन्हींकी गतिसे सावधानीपूर्वक उनके पीछे-पीछे आ रहे हैं! लेकिन वसुदेवजीको पीछे देखनेका अव-काश कहाँ? वे सम्मुख होती वर्षा भी कहाँ देख पाते हैं। उन्हें तो दीखता है—सामने मुख करनेपर भी दीखता है, जैसे कंस आ रहा है, आनेवालाही है और वह गोकुल—वह कारागारके सम्मुख ही उस पार गोकुल! किसी प्रकार वहाँ पहुँच सकें तो उनका यह लाल निरापद हो जाय। उनके प्राण तो चरणोंमें आ गये हैं। वे शीघ्र-शीघ्रतर बढ़े जा रहे हैं।

ये यमुना—भाद्रपदका महीना, बाढ़पर उमड़ती-घुमड़ती, गर्जन-तर्जन करती कलिन्द-नन्दिनी! शतशः आवर्त, बड़े-बड़े फेन, इस समय तो उनमें कोई पर्वत भी प्रवाहित हो जायगा। लेकिन वसुदेवजी कहाँ देखते हैं यह सब? वे यह भी कहाँ देखते हैं कि स्थलसे अब उन्हें जलमें चलना है। मार्गपर वर्षाके जलमें जैसे छप-छप करते वे आये हैं, वैसे ही बढ़े जा रहे हैं। उन्होंने तो सरितामें प्रवेशका कोई भाव ही नहीं प्रकट किया। उन्हें जैसे स्मरण ही नहीं कि कारागारसे गोकुलके मध्य कालिन्दी भी पड़ती हैं। वे तो बढ़े जा रहे हैं—बढ़े ही जा रहे हैं। जल घुटनोंतक, कटितक, वक्षतक······इतना प्रबल प्रवाह, इतना तीव्र वेग; किन्तु यह क्या—तटसे यह तनिक दूर जाते न जाते जल एक क्षणमें ऊपर आया और घट गया। कालिन्दीकी कामना पूर्ण हो गयी। उसके आराध्यने स्वयं पीछेसे अपने चरणोंका स्पर्श दे दिया उसे और वसुदेवजीके लिए मार्ग? भला, यह भी कोई प्रश्न है। वे उसे लिये जा रहे हैं, जो वैनतेयकी पीठपर बैठा जब आता है तो सरित्पति भी सादर मार्ग देते हैं और गरुडके पक्षोंको क्षीराब्धिके सीकरतक स्पर्श नहीं करते। कालिन्दी बढ़ें या घटें—वसुदेवजी-के वस्त्रतक उन्होंने नहीं भिगाये। वे तो उनके पादतल धो रही हैं, यही क्या कम सौभाग्य है उनके लिए?

× × ×

जैसे युग-युगकी अनिद्राका अभाव विश्वके प्राणी आज ही पूर्ण करने लगे है। गोकुलमें तो कभी नीरवता नहीं होती। वहाँ तो प्रहरी नित्य जागरूक रहते हैं। वहाँ किसी न-किसी गृहमें सदा ही पूरी रात्रिभर मङ्गल-महोत्सव चलता रहता है। लेकिन आज जैसे गोकुल भी नित्यके जाग-रणको पूरा कर लेगा। कहीं शब्दका नाम नहीं। सब कहीं निस्तब्ध नीरवता! और क्या पता—यह अन्धड़, वर्षा, गर्जन—इसमें कहीं कुछ शब्द हो भी तो पता क्या लगे। वसुदेवजीका ध्यान भी इधर कहाँ है? वे तो चले जा रहे हैं, भागे जा रहे हैं नन्दभवनकी ओर।

'व्रजराज, यह तुम्हारा ही पुत्र है! तुम इसे रख लो! रक्षा कर लो इसकी!' वाणी नहीं, हृदय कबसे पुकार रहा है। वे मिलते ही व्रजपतिके पैरोंपर रख देंगे इसे और······उनके वे परम सुहृद नन्दराय—वे कितने प्रसन्न होंगे! पता नहीं क्या-क्या हिण्डन चल रहा है।

नन्दभवनका द्वार तो खुला ही है—जैसे कोई भीतरसे प्रेरणा दे रहा है, मार्ग दिखा रहा है—'चलो ! चले चलो ! सीधे इधर !' और वे चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं भवनमें—अन्तःपुर-में और फिर इस प्रकोष्ठमें ! यह नन्दरानीका प्रसूति-गृह—पर वसुदेवजी किसी अज्ञान प्रेरणासे चले आये—चलते ही आये हैं भीतरतक ।

'यह बालिका !' प्रकोष्ठका परमोज्ज्वल मणि-प्रकाश भी किसी दिव्य प्रकाशसे मन्द-प्राय हो रहा है । श्री वसुदेवजीकी दृष्टि पड़ी उस नवजात बालिकापर । वह प्रकाशमयी, वह तो श्री वसुदेवजीकी ओर ही देख रही है । दृष्टि उसपर गयी और वहीं रह गयी । उन्होंने नहीं देखा प्रकोष्ठको, नहीं देखा प्रसुप्त सेविकाओंको और नहीं देखा निद्रामग्न नन्दरानीको । उन्होंने यह भी नहीं देखा कि वह बालिका एकाकिनी नहीं है । जैसे उनके नेत्र, उनकी चेतना उस बालिकाने अपनेमें केन्द्रित कर ली । मस्तकसे सूप उतारा उन्होंने और उसमेंसे अपने उस नवनीलनीरदको उठाया । उनके नेत्र बालिकासे हटे नहीं, अन्यथा वे देख लेते—वे निश्चय आश्चर्यचकित हो जाते कि उनका वह लाल वैसे ही माता यशोदाकी गोदीमें विराजे नन्दनन्दन-से सहसा एक हो गया है । उन्होंने तो बालिकाको उठा लिया । क्यों उठा लिया, क्या कर रहे हैं वे, जैसे स्वयं उन्हें पता नहीं । उसी सूपमें बालिकाको रख लिया और बलात् कोई जैसे भीतर कह रहा हो—'बस, अब चलो ! चलो जल्दी !' और सूप मस्तकपर पहुँच गया । वे लौट पड़े ।

'कंसको पता न लगे ! वह जान न जाय ! अन्वेषण न करे !' वसुदेवजीकी गति पहले से कुछ अधिक ही तीव्र है । भगवान् शेष इस योगमायाके ऊपर अपने फणछत्र लगानेका यह सु-अवसर भला, क्यों छोड़ने लगे और कालिन्दीने तो मार्ग देना सीख ही किया है : वसुदेवजी कारागारमें लौटे जैसे यन्त्र-चालितकी भाँति द्वार खुले थे, वैसे ही स्वतः बन्द हो गये क्रमशः । अपने-आप ताले, श्रृङ्खलाएँ, लौहदण्ड यथास्थान हो गये ।

वसुदेवजीने चुपचाप सूप देवकीकी ओर बढ़ा दिया और उनके हाथ-पैर श्रृङ्खलाओंमें आबद्ध हो गये । माता देवकीने कन्याको उठाया, उनकी कन्या—उनकी ही कन्या तो है यह । यही तो उनकी गोदमें आयी है । जैसे उन्हें स्मरण ही नहीं कि कन्या उनकी नहीं । वही मातृत्व—वही वात्सल्य ! यह जो उसकी गोदमें आयी है, उसका अज्ञात इङ्गित क्या-क्या करता है, कौन समझ पाता है ? माताने कन्याको उठाया और बाहर द्वार-रक्षक जगे । उन्होंने चौंककर अपने वस्त्रादि ठीक किये । शस्त्र उठाये । जैसे यह नवजात कन्या पहचानती हो कि वह अपनी माताकी गोदमें नहीं है । वह तो रोने लगी ! माताने व्यग्र होकर उसका मुख स्तनोंसे लगाया । पर वह तो रो रही है, रोती जा रही है उच्चस्वरसे और माता—वह कैसे चुप करा पाये—उसके प्राण छटपटा रहे हैं ।

•

महामना मालवीयजी : एक पुण्य-स्मरण

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

काशी जाकर और वहाँ काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयको भर आँख देख चुकनेपर लोग एकबार यह सोच आँखें मलते रह जाते हैं कि इतना बड़ा विश्व-विद्यालय कब, किसने और कैसे खड़ा कर डाला !

यह विश्व-विद्यालय बना है पंडित मदनमोहन मालवीयजीकी लगनसे, जिनका जन्म २५ दिसम्बर सन् १८६१ में प्रयागमें हुआ था। वे अपने पिता पंडित व्रजनाथजीके तीसरे पुत्र थे। गोरा-चिट्टा रङ्ग, गठी हुई फुर्तीली देह, बाँसुरीकी मिठाससे भरा हुआ सुरीला गला तथा सचाई और लगनकी चमकसे दमकता हुआ चौड़ा माथा इन्हें अपने पिताजीसे बपौतीमें मिला था। इनके पिताजी भागवतकी बड़ी अच्छी कथा बाँचा करते थे। उनके गलेमें ऐसा सुरीलापन था कि जब वे मगन होकर बाँसुरीकी तानपर 'मधुराष्टक' गाते तो सभी सुननेवाले सुध-बुध खोकर झूमने लगते। वे बड़े सीधे-सच्चे ब्राह्मण थे। किसीके आगे उन्होंने हाथ पसारना सीखा नहीं था। इसलिए जो कुछ थोड़ा-बहुत कथापर चढ़ावा चढ़ जाता, उसीसे अपने घरका काम चला लेते। उनके पुरखे लोग मालवासे आये थे, इसलिए वे 'मल्लई' या 'मालवीय' कहलाते थे।

पहले तो मालवीयजी संस्कृत पढ़ने लगे, पर जब इन्होंने छोटे-छोटे लड़कोंको कन्धों-पर झोले लटकाये अँगरेजी पढ़नेके लिए जाते देखा तो इनके मनमें भी साध हुई कि क्यों न मैं भी जाकर अँगरेजी पढ़ने लगूँ। पर इनके पिताजीके पास इतनी समाई नहीं थी कि अँग-रेजीकी पढ़ाईका बोझ उठा सकते। गंगाप्रसाद नामके एक सज्जनने इनके लिए एक रुपया महीना बाँध दिया और इनका नाम गवर्नमेंट-स्कूलमें लिखा दिया गया।

जिन दिनों ये स्कूलमें पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों बैठे सोचा करते कि 'मैं एक दिन ऐसा विश्व-विद्यालय बना खड़ा करूँगा, जिसमें संसारकी कोई विद्या छूटने न पाये और वह विश्व-विद्यालय गङ्गाजीके तीर प्रयागसे काशीतक फैला हो। बताइये, जिसके घर खाने-तकका भी ठिकाना न हो, उसके मुँहसे इतनी बड़ी बात सुनकर कौन न हँस देगा ? इनके जो भी साथी इनकी ऐसी ऊटपटांग बातें सुनते, वे जी भरकर इनकी खिल्ली उड़ाया करते।

बोलनेकी धुन इन्हें बचपनसे ही थी। अपने पिताजीसे संस्कृतके सैकड़ों श्लोक इन्होंने सीखकर कंठ कर डाले थे। अपने पिताजीसे कथा सुनते-सुनते इन्हें भाषण देनेकी कला भी

बहुत कुछ आ ही गयी थी। इसलिए ये करते क्या थे कि झट आँख बचाकर घरसे मोढा ले जाते और लगते किसी चौराहेपर खडे होकर धुआँधार भाषण देने। इसलिए जब बी० ए० करके ये कलकत्तेकी दूसरी कांग्रेसकी बैठकमें बोलने खड़े हुए, तो कांग्रेसके बड़े-बड़े अखाड़ियोंने दाँतोंतले उँगली दबा ली। ये बोलते क्या थे, मिसरी घोलते थे! एक-एक वाक्यके साथ इनके मुँहसे फूल झड़ पड़ते थे। संस्कृत, हिन्दी अँगरेजी, उर्दू सभी भाषाएँ इनकी जीभ-पर इतनी मँज गयी थीं कि कोई उसमें कहीं मीन-मेख नहीं निकाल सकता था। इनकी जिह्वापर सरस्वतीजी विराजमान हो गयी थीं। बोलते तो मुँहसे मोती झड़ते थे।

कांग्रेसकी उसी बैठकमें राजा रामपालसिंहने इन्हें अपने 'हिन्दुस्तान' पत्रका संपादन करनेके लिए कालाकाँकर बुला लिया। पर थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पादन-कार्य छोड़ दिया। इन्होंने झट वकालत पढ़ डाली। कुछ ही दिनोंमें इनकी वकालत भी चमक उठी। विश्वविद्यालय खोलनेकी धुन मनमें इतनी समा गयी थी कि इन्होंने अपनी जमी-जमाई वकालतको लात मार दी और हिन्दू-विश्वविद्यालयके लिए झोली सँभाल कर निकल पड़े। इनका नाम तो दूर-दूरतक फैल ही चुका था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा इनकी पुकारपर दौड़ पड़े और सारे देशने जी खोलकर इनकी झोलीमें सवा करोड़ रुपये डाल ही तो दिये। फिर क्या था? काशीमें गङ्गाजीके बायें तीरपर काशीनरेशकी दी हुई धरतीपर, सन् १९१६ वसन्त-पञ्चमीके दिन उस काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयकी नींव डाल दी गयी, जो आज संसारके इने-गिने विशाल विश्वविद्यालयोंमें निराला ही है।

पर यह नहीं समझना चाहिए कि इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालयका ही निर्माण किया। अपने देशके कन्धेसे अंगरेजीका जूआ उतारनेके लिए देशमें जब-जब जो-जो आन्दोलन छिड़े, तब उन सबमें कभी मालवीयजी किसीसे पीछे नहीं रहे। पहले तो इन्होंने सोचा कि बिना लड़ाई-झगड़ा किये सिखाने-समझानेसे काम चल जाय तो अच्छा है। जो गुड़ देनेसे मरे, उसे विष क्यों दिया जाय? पर जब इससे काम बनता न दिखायी दिया, तो वे भी अखाड़ेमें आ कूदे और बुढ़ापेमें भी बड़े घर जानेसे न झिझके।

अपने देशमें बनी हुई वस्तुएँ काममें लानेकी बात सबसे पहले मालवीजीने ही उठायी और प्रयागमें उसके लिए कारीगरोंको भी ला जुटाया। जब देशके बड़े-बड़े नेता जेलोंमें ठूँस दिये जाने लगे तब इनसे न रह गया। इन्होंने और इनकी धर्मपत्नीजीने हाथमें झण्डा लेकर जनताको मार्ग दिखाया। इन्हीं सब बड़े-बड़े कामोंसे ये 'महामना' कहलाये।

यह सब होते हुए भी मालवीयजी महाराज अपने खाने-पीने, पहनने-ओढ़नेमें बड़े कट्टर थे। ये पक्के और सच्चे धर्मात्मा पुरुष थे। तड़के उठते ही संध्या-पूजाके साथ रामायण-भागवत बाँचना इनका पहला काम होता था। ये नीचेसे ऊपरतक जैसी उजली देहवाले थे वैसे ही उजले कपड़े भी पहनते थे। बड़े ढङ्गसे सजाकर बाँधी हुई पगड़ी, गलेमें तह दिया हुआ लम्बा साफा, लम्बा-चिट्टा अँगरखा, धोती या सँकरा पाजामा और कपड़ेके जूते सब उजले ही होते थे। इनका हृदय इतना कोमल था कि जहाँ किसीका दुःख देखते या सुनते कि झट पिघल उठते, इनकी आँखें बरस पड़तीं। अपने नियमके इतने पक्के होनेपर भी जब देशके

अप्रतिम सेनापति : भगवान् श्रीकृष्ण

आचार्य श्री गंगाधर मिश्र

★

आसुरी प्रकृतिके प्राणी सोचते हैं कि "यह वस्तु आज मैंने प्राप्त की है, इस मनोरथको कल पूर्ण करूँगा। यह धन मेरा है और यह धन भी फिर मेरा होगा। उस शत्रुको मैंने मारा है। दूसरोंको भी निश्चय ही मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ। मैं भोगी, सहायसम्पन्न, बलशाली और सुखी हूँ। मैं धनाढ्य और कुलीन हूँ। मेरे समान दूसरा कोई नहीं है।' ऐसे प्राणी अनेक प्रकारके संकल्पोंसे विक्षिप्त, मोहजालसे घिरे एवं विषयभोगमें बेसुध होकर अपवित्र नरकमें गिरते हैं :

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

लिए विलायत जाना हुआ, तो इन्होंने अपना नियम भी ढीला कर दिया। लेकिन वहाँ जाकर भी अपने खाने-पीनेके नियमका निर्वाह करते ही रहे।

ये न कभी किसीसे डरते थे, न दूसरोंको डरना सिखाते थे। जब कभी कोई बात पड़ती तो खुलकर चुनौती देते हुए यही कहा करते थे कि अर्जुनकी दो आनें है : 'न वह किसीके आगे गिड़गिड़ाता है और न पीठ दिखाकर भागता है' : **अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।** इन्हीं सब बातोंसे इनके वैरी भी इनकी बड़ाई करते और इनका लोहा मानते थे। महात्मा गांधी तो इन्हें अपना बड़ा भाई मानकर सदा इनका आदर किया करते थे। छात्रोंके लिए वे एक दोहा कह गये हैं, जो सब छात्रोंको सदा स्मरण रखना चाहिए :

दूध पियो कसरत करो, नित्य जपो हरिनाम।
मन लगाय विद्या पढ़ो पूरँगे सब काम॥

और एक आशीर्वादात्मक श्लोक भी कह गये हैं :

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देशभक्त्याऽऽत्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव॥

●

जीवन-संघर्षमें सत्य, न्याय अथवा धर्मकी रक्षा तभी हो सकती है, जब सैनिक जीवनकी इन दैवी और आसुरी प्रवृत्तियोंके स्वरूपसे भलीभाँति परिचित हों। जीवनके नीति-पक्षकी इसी प्रकार पुष्टि सर्वदा सर्वत्र होती है। गीताकारने यहाँ अर्जुनको दैवी और आसुरी प्रवृत्तियोंके सत् अथवा असत् परिणामोंसे भी अवगत करा दिया है। आसुरी प्रवृत्तियाँ नरकमें ले जाती हैं। नरकके तीन द्वार हैं। इनसे बचनेके लिए ही भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुको साव-धान किया है : **काम, क्रोध और लोभ, ये तीन नरकके द्वार आत्माके नाशके कारण हैं। इसलिए विजयलिप्सु सैनिकको इनसे बचना परमावश्यक है।**

संसारके रजोगुण तथा तमोगुणके तीव्र प्रवाहसे ऊपर उठकर सात्त्विक-दशा प्राप्त करनेसे ही सच्चे सैनिकको अमरत्वकी प्राप्ति होती है। यदि वह संसारके सुखोपभोगका चिन्तन करते हुए विषयोंसे आबद्ध हो जाता है, तो उससे कामकी उत्पत्ति होती है और कामसे क्रोध उत्पन्न होता है। **क्रोधसे अविवेक होता है।** अविवेकसे स्मृतिका नाश तथा स्मृतिके नाशसे बुद्धिका नाश और बुद्धिके नाशसे मनुष्य स्वयं नष्ट हो जाता है :

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (२.१६)
ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥ (२.२४)
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ (२.२५)

नैतिक दृष्टि देकर सांसारिक व्यवहारके सम्बन्धमें भी बोध करानेके लिए अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्ण श्रद्धा, तप, दान आदिके संबंधमें समझाते हुए कहते हैं कि मनुष्योंमें श्रद्धा, सात्त्विको, राजसी तथा तामसी भेदसे तीन प्रकारकी मिलती है। **सात्त्विक प्रकृतिके मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं।** राजसी प्रकृतिके प्राणी यक्षों एवं राक्षसोंको पूजते हैं और तामसभावके मनुष्य प्रेतों और भूतोंके समूहोंको पूजते हैं :

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

तपस्या शरीर, वाणी और मनसे होती है। माता, पिता, वेदवेत्ता ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानियोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसासे शारीरिक तपकी पुष्टि होती है। जिस वाणीसे किसीमें अशांति न उत्पन्न हो तथा जो सत्यप्रिय एवं हितकर हो, जिसका वक्ता सर्वदा स्वाध्यायका अभ्यासी हो, उसे वाणीकी तपस्या कहा जाता है। मनकी प्रसन्नता, उदारता, मननशीलता, मनोनिग्रह तथा भावनाकी शुद्धि मनकी तपस्या कही जाती है :

देव - द्विज - गुरु - प्राज्ञ - पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥ (१६.१४-१७)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको हर प्रकारसे निर्भय, नीति-निष्ठ तथा व्यावहारिक रहस्य-वेत्ता बननेके लिए कहा है। चाहे कोई प्राणी पृथ्वी, आकाश तथा इतर लोकोंमें जहाँ कहीं भी निवास करें, सत्त्व, रज, तम—इन प्राकृतिक मुक्त गुणोंसे कदापि नहीं हो सकते। प्रकृतिकी त्रिगुणात्मकताके कारण ज्ञान, कर्म, बुद्धि सभीमें उसकी प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है :

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥

गुणात्मक प्रतिक्रियाकी दृष्टिसे जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेदोंसे भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें अभिन्नरूपसे व्याप्त रहनेवाले एक अविनाशी तत्त्वको जब मनुष्य देखता है, तब उसे सात्त्विक ज्ञान समझना चाहिए। जिस ज्ञानके द्वारा भिन्न-भिन्न रूपोंमें वर्तमान समस्त प्राणियोंमें जब मनुष्य भिन्न-भिन्न धर्मोंसे युक्त अनेक आत्माओंको जानता है, तब उसे राजस ज्ञान समझना चाहिए। किन्तु जब मनुष्य किसी एक वस्तुमें परिपूर्णताका विश्वास रखकर बँध जाता है, जो विश्वास युक्तिरहित, असत्य तथा संकुचित होता है—ऐसे ज्ञानको तामस समझना चाहिए। **व्यावहारिक परिणतिके अनुरूप जिस प्रकार ज्ञानकी तीन दशाएँ होती हैं, उसी प्रकार कर्मकी भी तीन दशाएँ होती हैं।** सात्त्विक-कर्म उसे समझना चाहिए जिसे मनुष्य अवश्य करणीय समझकर राग, द्वेष तथा आसक्तिसे रहित होकर फलकी अभिलाषा न रखते हुए करता है। परन्तु जो कर्मफल चाहनेवाले तथा अहंकारी मनुष्य अत्यन्त परिश्रमके साथ सम्पन्न करते हैं, वह राजस-कर्म कहा जाता है। जो कर्म परिणाम, धनका व्यय, परपीड़ा तथा अपनी सामर्थ्यका ध्यान न रखते हुए अविवेकसे सम्पन्न होता है, उसे तामस-कर्म समझना चाहिए।

ज्ञान और कर्मकी भाँति बुद्धि भी तीन प्रकारकी होती है। प्रवृत्तिविषयक धर्म तथा निवृत्तिविषयक धर्म, करणीय कर्म और अकरणीय कर्म, भय और अभय तथा कारणसहित बन्धन तथा मोक्षको जो बुद्धि जानती है, वह सात्त्विक कहलाती है। जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म तथा अधर्म या कर्तव्य-अकर्तव्यको नहीं जानता, वह बुद्धि राजस होती है। तमोगुणसे आवृत बुद्धि जब अधर्मको धर्म समझने लगती है तब उसे तामसी समझना चाहिए।

जिस सुखके लिए मनुष्य सब प्रकारके प्रयत्न करता है, उसकी भी तीन दशाएँ होती हैं। जो सुख आरम्भमें विषकी भाँति, पर परिणाममें अमृतकी भाँति होता है तथा बुद्धिकी स्वच्छतासे उत्पन्न होता है, उसे सात्त्विक सुख समझना चाहिए। जो सुख आरम्भमें अमृतके समान, पर परिणाममें विष जैसा होता है तथा जो विषयों एवं इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न

होता है उसे राजस सुख कहा गया है। जो सुख आरम्भ तथा अन्तमें आत्माको मोहमें डालनेवाला तथा निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे उत्पन्न होता है उसे तामसी सुख समझना चाहिए।

इस प्रकार जीवनकी विभिन्न प्रकारकी परिणतियोंसे परिचित हो जानेके बाद भगवान् श्रीकृष्ण यह भी समझा देते हैं कि तुम मोहाभिभूत होकर अहंकारको प्रश्रय देते हुए 'युद्ध न करूँगा' ऐसा निश्चय कर रहे हो। युद्ध न करनेका तुम्हारा यह निश्चय सर्वथा असत्य है। प्रकृति तुम्हें युद्धके लिए निश्चित ही विवश करेगी। मोहवश जो कर्म तुम नहीं करना चाहते, अपने स्वाभाविक कर्ममें बँधे होनेके कारण वह तुम्हें करना ही पड़ेगा।

इस प्रकार जीवन एवं संसारके रहस्यका बोध करानेके बाद जब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे इस प्रकार पूछा कि 'अर्जुन जो कुछ मैंने कहा है, क्या एकाग्रतापूर्वक तुमने उसे सुना? तुम्हारा अज्ञानजन्य मोह अब दूर हो गया या नहीं?' इस अवसरपर सेनापतिके समक्ष जिस प्रकार सैनिक अपनी वशवर्तिता प्रकट करता है, उसी प्रकार अर्जुनने भी भगवान्की वशवर्तिता स्वीकार की है।

वास्तवमें गीताके अन्तमें हम यह देखते हैं कि जो अर्जुन नपुंसक होकर युद्धसे भागना चाहते थे और श्रीकृष्णका आग्रहको माननेके लिए तैयार नहीं थे, वे उनके (भगवान् श्रीकृष्णके) आज्ञापालनके लिए इस प्रकार अपना संकल्प व्यक्त करते दिखायी देते हैं:

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

इस प्रकार गीताके अध्ययनसे जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ असैनिक मानवको सैनिकताका सन्देश देनेमें सर्वथा समर्थ है। इसके मननसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण आदर्श सेनापतिकी भाँति अर्जुनको प्रबुद्ध करनेमें पूर्ण सफल रहे।

गीताका मुख्य प्रतिपाद्य : समत्व-योग

श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह

★

गीताका मुख्य योग साम्य-योग जान पड़ता है। ईश्वर सबमें समान रूपसे स्थित है : **समवस्थितमीश्वरम्**। इसलिए सबके प्रति समताका वर्ताव करना ही उसकी पूजा है : **समत्वमाराधनमच्युतस्य**। इसीलिए समत्वको योग कहा है : **समत्वं योग उच्यते**। पहले तो समत्व-दर्शन आवश्यक है : **पण्डिताः समदर्शिनः**। फिर उसके अनुसार आचरण करना जरूरी है, केवल समदर्शन पर्याप्त नहीं है :

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

यह समत्व-दर्शन शरीर, मन, वाणी सभीमें प्रकट होना चाहिए :

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।

वह सर्दी गर्मी (शारीरिक) तथा मान-अपमान (मानसिक)में एक समान रहता है और मधुर-वाणी (वाचिक) बोलता है :

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

वह ईश्वरको सर्वत्र और सबको ईश्वरमें देखता है। वह सर्वज्ञ ईश्वरको सर्वभावसे भजता है :

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

इससे सब पराये अपने हो जाते हैं। हम अपनेको दूसरेमें देखने लगते हैं। सबकी पूजा ही ईश्वर-पूजा हो जाती है : **तदैव सर्वार्हणमच्युतस्य** (भागवत)। जिसमें सब प्राणी स्थित हैं और जिससे सब व्याप्त है, अपने कर्मद्वारा मनुष्य उसकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त करता है :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

इसीसे अन्तमें ज्ञानकी परानिष्ठा प्राप्त होती है, जिसका वर्णन गीताके अन्तमें किया गया है।

अन्तिम सिद्धि : ब्रह्म-निर्वाण :

प्रश्न उठता है कि अल्पज्ञ और सर्वज्ञ जीव और ईशमें साम्य कैसे सम्भव है ? साथ ही गीतामें जीवको ईशका अंश भी माना गया है :

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

असलमें अंश और अंशीमें स्वरूपका अन्तर नहीं, शक्तिका अन्तर होता है। दीपक और ज्वालामें जो अन्तर है, वही जीव और ईश्वरमें है। जब ब्रह्म जीवभूत हुआ तो जीव भी

ब्रह्मभूत हो सकता है। जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं, मात्र अनुभव करनेकी आवश्यकता है। एकताका अनुभव करनेके लिए अनेक उपाय बताये गये हैं और वे ही विभिन्न योग हैं।

पहले शारीरिक योग (युक्ताहार, विहार आदि) फिर मानसिक योग (चित्तशुद्धि), फिर बुद्धिकी शुद्धि या बुद्धियोग, फिर इन्द्रियोंका संयम या आत्मसंयम-योग। इससे शरीर, वचन और मनका योग सिद्ध होता है : **यतवाक्कायमानसः**। इसके बाद स्थितप्रज्ञकी स्थिति आती है, जिससे ब्रह्म-निर्वाण होता है। विभिन्न योगों द्वारा विभिन्न स्थितियोंकी प्राप्ति होती है। योग यदि उपाय या साधन हैं, तो स्थितियाँ साध्य हैं। अन्तिम उपाय साम्ययोग है, जिसके द्वारा इसी लोकमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

ब्राह्मीस्थितिको ही अन्तमें 'सिद्धि' कहा गया है, जिसका वर्णन १८वें अध्यायमें किया गया है :

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां मत्संस्थामधिगच्छति।

विविध निष्ठाएँ और विविध स्वरूप :

गीतामें अनेक योगोंका वर्णन है। विभिन्न विद्वानोंने उनमें-से किसी एकपर बल दिया और उसीको गीताका प्रतिपाद्य विषय बताया है। असलमें एक किसीसे प्रारम्भ करनेपर अन्य योगोंकी प्राप्ति हो जाती है :

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

सभी योग एक दूसरेसे संबद्ध हैं। एक अकेलेसे काम नहीं चलता। वैसे दो निष्ठाएँ मुख्य बतलायी गयी हैं : ज्ञान-निष्ठा और कर्म-निष्ठा। भक्तिको तो अन्तिम प्राप्तव्य बताया है। नैष्कर्म्यसिद्धिके बाद भी कहा है : **मद्भक्तिं लभते पराम्**। इन सबका जीवनको पूर्ण बनानेमें उपयोग है; एकांगी जीवन गीताका कथमपि लक्ष्य नहीं।

अन्ततः मनुष्यका प्राप्तव्य क्या है ? वह मुख्यरूपसे तीन बातें चाहता है : सुख, शान्ति और प्रेम। शरीर-सुखके लिए पहले स्वास्थ्य आवश्यक है जो युक्ताहार, विहार आदिसे हो सकता है। उसके बाद उसे मानसिक शान्ति चाहिए। इसके लिए चित्तको स्थिर और शान्त करनेके साधन बतलाये गये हैं, जिसे 'राज-योग' कहते हैं। प्रेमके लिए 'भक्ति-योग' का विधान है। सुखके लिए कर्म करना आवश्यक है, किन्तु वह भी अनासक्त होकर। इसीको 'कर्मयोग' कहा गया है। शान्तिके लिए मोह दूर होना आवश्यक है, जो ज्ञान-योग द्वारा ही हो सकता है। श्री स्वामी अखण्डानन्दजीके शब्दोंमें हममें तीन बातें मुख्य हैं : सत्ता, प्रियता और आनन्द-मयता। सत्ताके लिए कर्म, प्रियताके लिए और भक्ति आनन्दमयताके लिए ज्ञान आवश्यक है। इसीको 'सत्-चित् आनन्द' कहा गया है, जो आत्माका असली स्वरूप है।

चार पुरुषार्थ और तीन निष्ठाएँ :

मनुष्य-जीवनकी आवश्यकताओंमें आर्थिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मुख्य है। इन्हींको ४ पुरुषार्थ भी कहा गया है : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके बिना

जीवन सुखी, समृद्ध और शान्तिपूर्ण नहीं हो सकता। अर्थ प्रारम्भिक आवश्यकता है, किन्तु वह न्यायपूर्ण उपायोंसे होना चाहिए। अन्यायपूर्ण अर्थसंग्रहसे संघर्ष होता है। यह आसुरी प्रवृत्ति-वालोंका काम है। अर्थसे शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है। किन्तु केवल अर्थसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती : **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**। उसे कीर्ति, यश, प्रेम आदि मान-सिक वृत्तियोंको तुष्ट करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु ये भी नीतिके अनुकूल होनी चाहिए :

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

यह धर्म क्या है ? यह व्यक्तिगति नहीं, सामाजिक है। परिवार उसका एक अंग है। समाजके लिए व्यक्तिको त्याग करना पड़ता है। उसीसे समाजकी धारणा होती है।

अन्तमें आता है मोक्ष, जिसके बिना मनुष्यको शान्ति और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यही अन्तिम पुरुषार्थ है। अर्थप्राप्तिके लिए कर्म करना आवश्यक हो जाता है। मानसिक नियंत्रणके लिए बुद्धियोग आवश्यक है। कामको उचित मार्गपर चलानेके लिए भक्ति समर्थ है तो मोक्ष-प्राप्तिके लिए ज्ञान की व्यवस्था है। इस तरह चारों पुरुषार्थोंके लिए उक्त तीन निष्ठाएँ आवश्यक हैं।

व्यक्तिगत जीवन-नियंत्रणके लिए आश्रमों और सामाजिक मर्यादाके लिए वर्णोंकी व्यवस्था की गयी है। ब्रह्मचर्यमें तैयारी, गार्हस्थ्यमें अर्थसंचय और धर्मानुकूल कामकी पूर्ति, वानप्रस्थमें समाज-सेवा तथा संन्यासमें मोक्ष-प्राप्तिको साधना करनी होती है।

वर्णाश्रम और यज्ञ-दान-तप :

इसी प्रकार चारों वर्ण सामाजिक व्यवस्थाके लिए आवश्यक हैं। वंश-परम्परासे जो गुण जिसमें विकसित हों, उनसे सहायता अवश्य मिलती है; किन्तु स्वाभाविक गुण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गीता कहती है :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

समाज-संचालनके लिए पहले शूद्रद्वारा सेवा-कर्म करना आवश्यक है। अर्थ-व्यवस्थाके लिए वैश्यकर्म (कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य) परम आवश्यक हैं। समाज-रक्षाके लिए क्षात्रधर्म भी अनिवार्यतः आवश्यक है। इन सबके सञ्चालनके लिए बौद्धिकवर्ग भी आवश्यक है, जो समाजको ज्ञान-दान कर व्यक्तिको मोक्ष-मार्ग और समाजमें विवेक-मार्गमें प्रवृत्त करे।

वर्णाश्रम-धर्मके लिए गीतामें तीन तत्त्वोंका विवेचन किया गया है : यज्ञ, दान और तप। यज्ञसे सामाजिक आदान-प्रदान और व्यवहार चलता है। दानसे अर्थशुद्धि होती है तथा तपसे शारीरिक और मानसिक शुद्धि। मोटे रूपसे चारों आश्रमों और वर्णोंके लिए इन तीनोंकी आवश्यकता है। इसी प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति सभीके लिए आवश्यक हैं। शूद्रकी परिचर्या, वैश्यकी नीति-धर्मद्वारा मर्यादित अर्थकाम-प्रवृत्ति, क्षत्रियकी देशरक्षा तो ब्राह्मणकी त्यागपूर्ण ज्ञाननिष्ठाका आधार तप ही है। यज्ञद्वारा आदान प्रदान चलता है तथा दानद्वारा समाजमें आर्थिक वितरण। इसीलिए इसे 'सार्ववर्णिक धर्म' कहा है : **धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः**।

गीताकी विशेषता :

गीताकी रचनाके पूर्व हमारा दार्शनिक साहित्य बहुत समृद्ध था। वेदोंने कर्मकाण्डका प्रारम्भकर विविध देवोंको प्रसन्न करनेके लिए सकाम यज्ञकी पद्धति चलायी। उपनिषदोंमें एककी उपासना चलायी तथा सकाम यज्ञोंकी निन्दा की। ब्रह्म-सूत्रमें उपनिषदोंकी एकत्रित व्याख्या की गयी है। उसके बाद षड्दर्शनोंका उदय हुआ। बौद्ध-धर्मने ईश्वरतत्त्वको अनावश्यक समझकर 'पञ्चशील'पर बल दिया। जैन-दर्शनने आत्माका अस्तित्व मानकर कैवल्यप्राप्तिको लक्ष्य माना। इसीके बाद व्यासजीने 'जय'-काव्यकी रचना की, जो बादमें 'भारत' और अन्तमें विशाल 'महाभारत' बन गया। गीता इसीमें ग्रथित की गयी है। उसने अर्जुनका शोक-मोह निवारण करनेके लिए आत्माकी अमरताका प्रतिपादन किया, जो उपनिषदोंमें पहले ही हो चुका था। उपनिषद्के ब्रह्मवाद और बौद्ध-निर्वाणको मिलाकर उसने "ब्रह्म-निर्वाण" शब्दकी रचना की। नास्तिकवादके स्थानपर आस्तिक-भक्तिका प्रचार किया। अनासक्त कर्मयोग तथा ज्ञानयोगके सूत्र उपनिषदोंमें मौजूद थे ही। उन्हींका आधार लेकर गीताने आत्म-कल्याणके लिए कर्म, ज्ञान और भक्तिका सुन्दर समन्वय किया। उसने कर्मयोगकी विस्तृत व्याख्या की, जो अभीतक नहीं थी। ज्ञानयुक्त भक्तिकी श्रेष्ठता बतलायी। सकामताके बदले निष्कामताका प्रतिपादन किया। द्रव्य-यज्ञोंकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता बतलायी। तत्त्वज्ञानमें भी क्षर और अक्षरके ऊपर 'पुरुषोत्तम-तत्त्व'का प्रतिपादन किया, जो पूर्वके ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता।

ईश्वरने एकरूपता या ब्राह्मी-स्थितिकी अवस्थाके लिए स्थितप्रज्ञ होनेकी आवश्यकता बतलाकर नैष्कर्मसिद्धितक पहुँचाया। विविध योग उससे एकता प्राप्त करनेके लिए मौजूद थे। इस प्रकार योगको साध्य और साधन दोनों रूपोंमें सामने रखा। उसका आदर्श 'योगं युञ्जन्' रखा और साधनके रूपमें कर्मयोग आदि तीनोंके समन्वयका प्रतिपादन किया। योगका उद्देश्य दुःख-निवृत्ति बतलाया :

> तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
> स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

संक्षेपमें साम्ययोगकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की, जिसके द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है। शरीरकी दृढताके लिए युक्ताहार, विहार आदि साधन बतलाये। मानसिक स्थिरताके लिए आत्मसंयम-योग साधन तथा बुद्धिकी स्थिरताके लिए बुद्धि-योगसे प्रारम्भकर स्थितप्रज्ञ-अवस्थातक पहुँचाया। इसके बाद भी भक्तिकी प्राप्तिकी आवश्यकता बतलायी।

इस प्रकार गीताने अपने पूर्ववर्ती दर्शनों और योगोंका समन्वयकर मनुष्यके शोक-मोह-निवारणके लिए सर्वसुलभ भक्ति-मार्गद्वारा विश्वके केन्द्रमें स्थित पुरुषोत्तमके प्रति सर्वस्व समर्पणका प्रतिपादन किया। यज्ञ, दान, तपको सबके लिए आवश्यक बतलाकर उनकी नयी व्याख्या उपस्थित की। संक्षिप्तीकरण और समन्वय ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

●

नाम-अपराध[1]

★

नाम-अपराध : नामापराधके सम्बन्धमें प्रचलित धारणा ऐसी है कि नामापराध दस हैं, जैसे :

१. साधु-निन्दा ;
२. श्रीविष्णु और श्रीशिवके नाम आदिको अलग-अलग स्वतन्त्र मानना ;
३. गुरुकी अवज्ञा ;
४. श्रुतिकी, तदनुगत शास्त्रोंकी निन्दा ;
५. हरिनामकी महिमाको अर्थवाद मानना ;
६. प्रकारान्तरसे हरिनामकी अर्थ-कल्पना करना ;
७. नामके बलपर पापमें प्रवृत्ति ;
८. अन्य शुभ-क्रियाओंके साथ नामकी समता मानना ;
९. श्रद्धाहीन व्यक्तिको नामोपदेश ; और
१०. नाम-माहात्म्य सुनकर भी नाममें अप्रीति ।

भक्तिरसामृतसिन्धुके १.२.५४ (१.२.११८) श्लोककी टीकामें श्री जीव गोस्वामी-पादने भी पद्मपुराणका उल्लेख करके अतिसंक्षेपमें उल्लिखित दस नामापराध ही बताये हैं। फिर उन्होंने लिखा है कि प्रमाण-वचन श्रीहरिभक्तिविलासमें देखिये ।

हरिभक्ति-विलासमें उद्धृत प्रमाण-वचनोंकी आलोचनाके पूर्व प्रसंगक्रममें एक-दो बातें और बतानी आवश्यक हैं। श्रीमन्महाप्रभुने बताया है : **सेवा नामापराधादि विदूरे वर्जन** । इन अपराधोंको दूर रखनेके लिए जब श्रीमन्महाप्रभुने उपदेश दिया है, तब यह सहज ही समझा जाता है कि श्रीमन्महाप्रभुकी कृपाके ऊपर निर्भर करके चेष्टा करनेसे इन अपराधोंको न करनेसे भी काम चल सकता है। चेष्टा करनेसे भी जिसको बिना किये भी

---

१. श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्यलीला, २२वें परिच्छेदके ६६वें पयार छन्दकी गौरधामगत श्रीराधागोविन्दनाथकी टीकासे अनूदित। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु तथा श्रीहरि-भक्ति-विलासके श्लोकोंकी टीकामें उद्धृत क्रमसंख्या बिना कोष्ठकके है और कोष्ठकमें दी हुई श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुके श्लोकोंकी संख्या 'हरिबोल कुटीर, श्रीधाम, नवद्वीप'के संस्करणकी है तथा श्रीहरिभक्तिविलासके श्लोकोंकी संख्या 'श्रीमत्पुरीदास महाशय' द्वारा सम्पादित संस्करणकी है।

काम चल सके, जिससे दूर रहा जाय; वह भविष्यकी वस्तु ही होगी। वह वस्तु गतकालकी या पूर्वजन्मकी कोई वस्तु नहीं हो सकती; कारण गत-वस्तु हमारी वर्तमान या भविष्य चेष्टाके अधीन नहीं है।

जो कुछ भी हो, उल्लिखित अपराधोंकी सूची देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि पहले नौ अपराध-जनक कार्य चेष्टा करके न किये जाँय तो भी काम चल सकता है, किन्तु शेष दसवाँ अपराध चेष्टाके बाहरकी वस्तु है। 'प्रीति' अन्तरकी वस्तु है, वह बाहरकी वस्तु नहीं। चेष्टा द्वारा या इच्छामात्रसे किसीके भी प्रति मनकी प्रीति उत्पन्न नहीं होती। नाम-माहात्म्य सुनकर भी यदि हमारे मनमें प्रीति न उपजे, तो उसके लिए हम अपने वर्तमान कार्यके फलके लिए कैसे उत्तरदायी हो सकते हैं? हम चेष्टा करके तो नामके प्रति अप्रीतिको बुला नहीं रहे हैं। यदि अप्रीतिको चेष्टा करके लाया जाता, तो निश्चय ही हमारा अपराध हो सकता था। नाम-माहात्म्य सुनकर भी नाममें जो अप्रीति रहती है, वह हमारे गत कर्मका या पूर्व-अपराधका फल हो सकता है। किन्तु वह हमारे किसी वर्तमान कर्मका फल नहीं हो सकता। अतएव इससे दूर रहना भी सम्भव नहीं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमन्महाप्रभुने जिन कई अपराधोंकी बात मनमें रखकर 'दूर रहने'का उपदेश दिया है, दसवाँ अपराध उसके अन्तर्गत नहीं हो सकता। उल्लिखित दसवें अपराधके सम्बन्धमें यह एक समस्या सामने आती है।

समस्या तो नवें अपराधके सम्बन्धमें भी है। श्रद्धाहीन व्यक्तिको नामोपदेश देनेसे उपदेष्टाको अपराध होगा। शास्त्र-वाक्यके अनुसार **सुदृढ निश्चित विश्वास**को श्रद्धा कहते हैं। जिनको ऐसी श्रद्धा है, उनको नामोपदेश देनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। उपदेशकी आवश्यकता श्रद्धाहीन बहिर्मुख व्यक्तिके लिए ही है। शास्त्रों एवं महापुरुषोंके आचरणमें भी इसके अनुकूल प्रमाण मिलते है। **सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः** आदि (श्रीमद्भागत ३.२५.२४) श्लोकमें देखनेमें आता है कि साधु व्यक्तियोंके मुखसे भगवत् कथा सुनते-सुनते श्रोताको श्रद्धा आदि उत्पन्न होते हैं। इससे यह समझा जाता है कि पूर्वमें इस श्रोताको श्रद्धा नहीं थी; साधुओंके मुखसे हरि-कथा सुनकर उसको श्रद्धा उत्पन्न हुई है। इस श्रोताके श्रद्धाहीन होनेके कारण उसको हरिकथा सुनानेसे साधु विरत नहीं हुए, प्रसंग-क्रमसे उपदेश देनेसे भी विरत नहीं हुए। माया-पिशाचीसे ग्रस्त बहिर्मुख जीवके सम्बन्धमें भी श्रीमन्महाप्रभुने कहा हैं:

भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु वैद्य पाय।
तार उपदेश-मन्त्रे पिशाची पालाय॥

(चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला २२. १२-१३)

यहाँपर भी श्रद्धाहीन बहिर्मुख जीवके प्रति ही साधुके उपदेशकी बात जानी जाती है। यह भी सुना गया है कि श्रीनित्यानन्दजीने जिस-तिस हरएक व्यक्तिको श्रीहरिनामका उपदेश दिया था, जो नाम नहीं लेते थे उनसे दाँतोंमें तृण पकड़कर नाम लिवाते थे—**जे ना लय**

तारे लओयाय दन्ते तृण धरि। नवद्वीपके मुसलमान काजीको तो नामके प्रति या हिन्दू-धर्मके प्रति श्रद्धा नहीं थी। उन्होंने तो नामकीर्तनके सहायक ढोल तकको तोड़-फोड़ दिया था, किन्तु स्वयं महाप्रभुने उनको 'हरि' बोलनेका उपदेश दिया था। इन सब प्रमाणोंसे ऐसा लगता है कि श्रद्धाहीन और बहिर्मुखको उपदेश देना अपराधजनक नहीं है। किन्तु उक्त तालिकामें श्रद्धाहीनको नामोपदेश देना अपराधजनक बताया है, यह भी एक समस्या है। कोई कह सकता है कि श्रद्धाहीन व्यक्तिको नाम-दीक्षा न दें—यही उक्त वाक्यका तात्पर्य है। लेकिन ऐसा भी नहीं, क्योंकि नाममें दीक्षाकी या पुरश्चर्यादिकी आवश्यकता नहीं, यह बात स्वयं श्रीमहाप्रभुने कही है (चै० च० म० १५.१०९)

और भी एक बात है। उल्लिखित तालिकाका छठा अपराध प्रकारान्तरसे हरिनामकी अर्थ-कल्पना करना 'पाँचवें अपराध—हरिनामकी महिमाको अर्थवाद मानना'के अन्तर्भुक्त है, यह स्वतन्त्र, अलग अपराध नहीं है। जो व्यक्ति नाममें अर्थवाद-कल्पना करना नहीं चाहता, वह कभी प्रकारान्तरसे नामका अर्थ करना भी नहीं चाहता; अर्थवादका ही आनुषङ्गिक फल अर्थान्तर कल्पना है।

जो हो, श्रीजीवगोस्वामी भक्तिरसामृतकी टीकामें श्रीहरिभक्तिविलासमें पद्मपुराणसे उद्धृत प्रमाण वचन देखनेके लिए उपदेश दे गये हैं। इन सब प्रमाण-वचनोंको देखने एवं श्रीपाद सनातन गोस्वामीकी टीकाके अनुसार उनका अर्थ जाननेकी चेष्टा करनेसे उक्त कई समस्याओंका समाधान हो जाता है। श्रीपाद सनातन गोस्वामीके टीकासम्मत अर्थमें जो दस नामापराध मिलते हैं, वे प्रत्येक ही युक्तिसंगत हैं एवं चेष्टा करनेपर प्रत्येकसे दूर रहा जा सकता है। श्रीपाद सनातनके टीकासम्मत दस नाम-अपराध इस प्रकार हैं :

१. साधु निन्दा या सज्जन लोगोंके लिए अपशब्द कहना।

२. श्रीशिव और श्रीविष्णुकी नाम-रूप-लीला आदिको भिन्न मानना। श्रीशिव श्रीविष्णुके ही अवतारविशेष हैं, वे स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं; इसीलिए उनको श्रीविष्णुसे अलग स्वतन्त्र ईश्वर मानकर श्रीविष्णुनामादिसे श्रीशिवके नामादि भिन्न माननेपर अपराध होता है।

३. श्रीगुरुदेवकी अवज्ञा। ४. वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा।

५. हरिनाममें अर्थवादकी कल्पना करना, अर्थात् नामकी जो शक्तियाँ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, वे सब वास्तवमें नामकी नहीं, प्रशंसासूचक अतिरञ्जित वाक्यमात्र हैं, इस प्रकार मानना।

६. नामके बल पर पापमें प्रवृत्ति। अर्थात् कोई भी पाप-कर्म करते समय इस प्रकार मानना कि 'एकबार हरिनाम लेनेसे यहाँतक कि नामाभाससे भी जब सब पाप उसी क्षण दूर हो जाते हैं—ऐसा शास्त्रोंका कहना है, तब मैं यह पापकर्म कर सकता हूँ, बादमें एक बार ही क्यों, अनेक बार हरिनाम ले लूँगा, तब तो मेरे इस कर्मजनित पाप दूर हो जायेंगे।' नाम-ग्रहण करनेसे ही किये जानेवाले पापसे छुटकारा मिल जायगा, इस भरोसे किसी भी पापकर्ममें प्रवृत्त होना नामापराध होगा। बहुत कालपर्यन्त यम-यातना भोगनेपर भी इस

प्रकारके लोगोंकी शुद्धि नहीं होती। **नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धि:** (ह० भ० वि० ११.५२२)

७. धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि शुभकर्मोंके फलके साथ श्रीहरिनामके फलको समान मानना (इससे नामके माहात्म्यका नाश होता हैं, इसीसे प्रतीत होता है कि इसमें अपराध होता हैं)।

८. नाम-श्रवण या नाम-ग्रहणमें अनवधानता या चेष्टाशून्यता। **धर्मव्रतत्यागहुतादि-सर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमाद:** । (ह० भ० वि० ११.२८५ (११.५२३) ।

इस श्लोकको टीकामें श्रीसनातन गोस्वामीने लिखा है : **यद्वा धर्मादिशुभक्रिया-साम्यमेकोऽपराध:। प्रमादो नाम्न्यनवधानताप्येक:। एवमत्रापराधद्वयम्।** अनव-धानता (असावधाननता) से उपेक्षा प्रकट होती हैं।

९. नाम-माहात्म्य श्रवण करके भी नाम-ग्रहणमें प्रधानता न देना, मैं-मेरे आदि ज्ञानसे विषय-भोग आदिमें प्रधानता देना। **नास्ति प्रीति: श्रद्धा भक्तिर्वा, तया रहित: सन्, य: अहं-ममादि-परम:, अहन्ता ममता च, आदिशब्देन विषयभोगादिकं चैव परमं प्रधानम्, न तु नामग्रहणं यस्य तथाभूत: स्यात्, सोऽप्यपराधकृत्** (ह० भ० वि० ११.२९६ (११.५२४ श्लोककी टीकामें श्रीपाद सनातन गोस्वामी) ।

(शेषोक्त दोनों प्रकारके अपराधोंमें अन्तर यही है कि ८वें प्रकारके अपराधमें नामके प्रति उपेक्षा दीखती हैं और सम्यक् रूपसे चेष्टाशून्यता दीखती है। किन्तु ९वें प्रकारके अपराधमें उपेक्षा या सम्यक् रूपसे चेष्टाशून्यता नहीं है। नाम-ग्रहण करना तो होता है, किन्तु नाममें प्रीतिके प्रीतिके अभावके कारण नाम-ग्रहणकी प्रधानता नहीं दो जाती। ८वें प्रकारके अपराधमें नाम-ग्रहणकी मानो प्रवृत्तिका ही अभाव है। ९वें प्रकारके अपराधमें नाम-ग्रहणके विषयमें प्रधानता देनेकी प्रवृत्तिका अभाव है। दोनों प्रकारके अपराधोंमें ही पूर्व अपराध सूचित होता है, फिर नये अपराधकी बात भी कही गयी है। पूर्व अपराधके फलसे ८वें प्रकारमें नाम-ग्रहण आदिमें अवधानता (सावधानी, मनोयोग) उत्पन्न नहीं होती, ग्रहणकी चेष्टा न करनेसे भी नया अपराध बनता है; और ९वें प्रकारमें पूर्व अपराधके फलसे नाम-ग्रहण आदि विषयमें प्रधानता देनेकी प्रवृत्ति नहीं होती एवं नाम-ग्रहण आदि विषयमें प्रधानता न देना भी और नया अपराध होता रहता है।)

१०. जो श्रद्धाहीन, विमुख हैं एवं जो उपदेश आदि न सुनें अर्थात् ग्रहण न करें, उनको उपदेश देना : **अश्रद्धाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेश: शिवनामापराध:।** (ह० भ० वि० ११.२८५ (११.५२३) । इस प्रकारके अपराधको शिव-नामापराध कहा गया है। श्रीभगवान् और श्रीशिवमें स्वरूपत: अभेद होनेके कारण शिवनामापराध-शब्दसे यहाँ भगवन्नामापराध ही समझना चाहिए। लेकिन श्रीहरिभक्ति-विलासमें यह नहीं बताया कि श्रद्धाहीन व्यक्तिको नामोपदेश करनेसे अपराध होगा। बताया यह गया है कि **अश्रद्धाने** (श्रद्धाहीनको) **विमुखे अपि** (एवं विमुखको भी) **अश्रृण्वति** (जो उपदेश न सुनें;

ग्रहण न करे, उनको) यश्च उपदेशः (जो उपदेश दिया जाता है) वह अपराधजनक है। अपि एवं अश्रृण्वति इन दो शब्दोंपर ही सारा तात्पर्य निर्भर करता है। अपि-शब्दकी सार्थकता यह है कि श्रद्धाहीन एवं विमुख व्यक्तिको तो उपदेश दिया जाय, किन्तु श्रद्धाहीन एवं विमुख होनेपर भी उसको कोई भी व्यक्ति उपदेश न दे जो श्रद्धाहीन और विमुख होकर उपदेश भी न सुने, ग्रहण न करे, उपेक्षा करे (अश्रृण्वति)। 'अश्रृण्वति' शब्दसे यह सूचित होता है कि दो-एक बार उसको उपदेश दिया जाय; नहीं तो वह उपदेश सुनता है या नहीं, ग्रहण करता है या नहीं, इस बातका पता भी कैसे लगेगा ? दो-एक बार उपदेश देनेपर भी जब दिखायी दे कि वह उपदेशको ग्रहण नहीं करता, तब उसको फिर उपदेश न दें, देनेपर अपराध होगा। यहाँ अपराधका हेतु यही है कि जो ग्रहण ही न करे, उसको नामोपदेश देनेपर वह व्यक्ति नामकी अवज्ञा, अवमानना या अमर्यादा करेगा। इस प्रकारके अवज्ञा आदिका अपराध उपदेष्टाको ही लगेगा, क्योंकि उपदेष्टा ही इसका निमित्त है, उसके उपदेश न करनेपर अवज्ञा आदिको अवकाश ही नहीं।

नामापराधके प्रमाण-वचन भी यहाँ दिये जाते हैं :

(१) सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातः कथमु सहते तद्विगरिहाम्।
(२) शिवस्य श्रीविष्णोरिह हि गुणनामादिकमलं
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥
(३) गुरोरवज्ञा (४) श्रुतिशास्त्रनिन्दनं (५) तथार्थऽवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
(६) नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
(७) धर्म-व्रत-त्याग-हुतादिसर्वशुभक्रियासाम्यमपि (८) प्रमादः।
(९) अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥
(१०) श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं-ममादिपरमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥
(ह० भ० वि० ११.२८२-२८६; ५२१-५२४)

जो हो, यदि किसी भी प्रकार असावधानीके कारण नामापराध बन जाय तो सर्वदा नाम-संकीर्तन करके नामके शरणापन्न होना उचित है :

यो नामापराधेऽपि प्रमाद्येत कथञ्चन।
सदा सङ्कीर्तयन्नाम तदेकशरणो भवेत्॥
(ह० भ० वि० ११.२८७; ११.५२५)

किसी-किसीका कहना है कि किसी भी साधुकी निन्दासे जनित अपराध हो जानेपर उनकी स्तुति (प्रशंसा) करना एवं उनकी कृपा-प्राप्तिकी चेष्टा करना भी उचित है; श्रीगुरुके निकट अपराध होनेपर उनके शरणापन्न होकर उनको प्रसन्न करना चाहिए; शास्त्र-निन्दा-जनित अपराध होनेपर निन्दा किये हुए शास्त्रकी बार-बार प्रशंसा भी करनी चाहिए।

पुराणोंमें वर्णित व्रज

श्री प्रभुदयाल मीतल, साहित्य-वाचस्पति

★

भारतीय वाङ्मयमें पुराणोंका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। महाभारतमें इन्हें इतिहासके साथ वेदका उपवृंहण अर्थात् वृद्धि एवं व्याख्या करनेवाला कहा गया है : **इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**

जहाँ भारतवर्षकी ऐतिहासिक परम्पराके प्राचीनतम ग्रन्थके रूपमें महाभारतका महत्त्व है, वहीं पौराणिक-परम्पराके रूपमें अनेक पुराणों एवं उपपुराणोंका भी उल्लेखनीय स्थान है। इन पुराण-उपपुराणोंमें श्रीकृष्ण और उनकी लीला-भूमि व्रजका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।

मुख्य पुराणोंकी संख्या १८ है। इनके अतिरिक्त अनेक उप-पुराण भी हैं। अठारह पुराणोंमेंसे अग्नि, वायु, नारद, लिंग, कूर्म और पद्म नामक-पुराणोंमें कृष्ण-चरित्रका संक्षिप्त कथन है, किन्तु ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्तमें विस्तृत वर्णन मिलता है। इन सबमें तो श्रीकृष्णके साथ व्रजका थोड़ा या बहुत वर्णन हुआ ही है, किन्तु जिन पुराणोंमें श्रीकृष्ण-चरित्रका उल्लेख नहीं, उनमेंसे भी कुछमें व्रजका वर्णन मिलता है। ऐसे पुराणोंमें स्कन्दपुराण और वाराहपुराण विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

इन सभी पुराणोंमें व्रजका वर्णन गोष्ठ अर्थात् गायोंके बाँधनेका बाड़ा अथवा सिरक, गोशाला, गोचरभूमि और गोकुल अर्थात् गो-गोपोंकी चलती-फिरती बस्तीके रूपमें किया गया है। भागवतकारकी दृष्टिमें गोष्ठ, गोकुल और व्रज समानार्थक शब्द हैं। उसने व्रजको गो-गोपोंकी ऐसी बस्ती बतलाया है; जो पुर ही नहीं, ग्रामसे भी छोटी है; **शिशूंश्चकार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु।** अर्थात् पुरसे छोटा ग्राम और ग्रामसे भी छोटा व्रज। इस प्रकार पुराणोंमें जिस व्रजका उल्लेख किया गया है, वह किसी प्रदेशका वाची नहीं है। प्रदेश तो क्या, वह किसी नगर अथवा ग्रामका भी सूचक नहीं है। इसीलिए पुराणकारोंने मथुरा नगरको व्रजमें सम्मिलित नहीं किया है। पुराणोंके अनुसार 'व्रज' एक ऐसा रमणीक वनस्थल है, जिसमें गायोंके घास-चारे और दाना-पानीकी पर्याप्त सुविधा है। इसमें यमुना नदी अपनी कई धाराओंके साथ प्रवाहित होती है, और सघन वृक्षावली एवं गहन गुफाओंसे युक्त गोवर्धन पर्वत है। इस वनस्थलको मथुराके निकट यमुना नदीके दोनों ओर स्थित बतलाया गया है।

पुराणोंमें जहाँ वृहत्तर व्रजके प्रदेशवाची स्वरूपका कथन किया गया है, वहाँ इसे 'माथुर-मण्डल'की संज्ञा दी गयी है और व्रजकी वन्यभूमि अर्थात् गोप-वस्तीको उसके अन्तर्गत माना है। 'स्कन्दपुराण'में व्रजभूमिकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि भगवान्की व्यावहारिकी लीला विविध लोकोंमें होती रहती है। उन लोकोंमें पृथ्वी भी है, जहाँ 'माथुरमंडल'की स्थिति है। उस 'माथुर-मण्डल'के अन्तर्गत व्रजभूमि है, जहाँ भगवान्की वास्तवी अर्थात् दिव्य लीला गुप्तरूपसे हुआ करती है। उस लीलाका आभास प्रेम-पूरित जनोंको भी सदैव नहीं, वरन् कभी-कभी ही प्राप्त होता है :

युवयोर्गोचरेयं तु तल्लीला व्यावहारिकी।
यत्र भूराद्यो लोका भुवि माथुरमण्डलम् ॥
अत्रैव व्रजभूमिः सा यत्र तत्त्वं सुगोपितम्।
भासेत प्रेमपूर्णानां कदाचिदपि सर्वतः॥

इसी पुराणमें कहा गया है कि जितने भी तीर्थ हैं, उन सबमें माथुर-मण्डल महान् है, जहाँ श्रीकृष्णने गोपोंके साथ बाल-क्रीड़ा की है। इस माथुर-मण्डलके समान स्वर्ग, अन्तरिक्ष, मर्त्य और पातालमेंसे कोई भी उन्हें प्रिय नहीं है :

सर्वेषामेव तीर्थानां माथुरं परमं महत्।
बालक्रीडनरूपाणि कृतानि सह गोपकैः॥
दिवि नैव न पाताले नान्तरिक्षे न मानुषे।
समं तु मथुरायां हि प्रियं मम सदैव हि॥

'स्कन्द-पुराण' के समान 'पद्म-पुराण' में भीमाथुरा-मण्डलकी महिमाका वर्णन है। इसके पाताल-खंड, अध्याय ६७ श्लोक १२ में कहा गया है, तीनों लोकोंमें पृथ्वी इसलिए धन्य है कि इसमें विष्णु भगवान्का परम प्रिय माथुर-मण्डल स्थित है :

तस्मात् त्रैलोक्यमध्ये तु पृथ्वी धन्येति विश्रुता।
यस्मान्माथुरकं नाम विष्णोरेकान्तवल्लभम्॥

इस माथुर-मण्डलका विशद वर्णन 'वाराह-पुराण' में मिलता है। इसमें विविध प्रकारों और विभिन्न रूपोंमें इसका अधिक उल्लेख किया गया है कि यदि इसे माथुर-मण्डल अर्थात् वृहत् व्रजसे संवद्ध पुराण कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसीका एक अंश 'मथुरा-माहात्म्य' के नामसे प्रसिद्ध है।

'वाराह-पुराण' में इस माथुर-मण्डलका विस्तार २० योजन वतलाया गया है और कई प्रसंगोंपर इसकी विज्ञप्ति करते हुए कई प्रकारसे इसके महत्त्वका वर्णन किया है :

विंशतिर्योजनानां तु माथुरं मम मण्डलम्।
यत्र तत्र नरः स्नातो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥ (१५८।१)
विंशतिर्योजनानां तु माथुरं मम मण्डलम्।
इदं पृष्ठं महाभागे सर्वेषां मुक्तिदायि च॥ (१६३.१५)

विंशतिर्योजनानां हि माथुरं मम मण्डलम्।
पदे पदेऽश्वमेधानां फलं नात्र विचारणा॥ (१६८.१०)

वायु-पुराणमें माथुर-मण्डलका विस्तार ४० योजन कहा गया है :

चत्वारिंशद्योजनानां ततस्तु मथुरा स्मृता।

किन्तु उसका कथन वाराह-पुराणके उल्लेखके समान मान्यता और प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सका। एक योजन साधारणतया ४ कोस अथवा ७ मीलका होता है, इसलिए मोटे हिसाबसे माथुर-मण्डल अर्थात् व्रजमंडलका विस्तार ८४ कोसका समझा जाने लगा। इसमें अनेक वनोंकी स्थिति बतलायी गयी है।

पुराणोंमें व्रजमंडलके वनोंकी संख्या और इनके नामोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। यद्यपि उनमें इनके नाम और विवरणसे मतभेद है; तथापि वनोंकी संख्या १२ प्राय: सभीमें बतलायी गयी है। साथ ही व्रजमंडलका परिमाण भी सबमें ८४ कोसका ही लिखा गया है। 'पद्मपुराण' (११.१७) में व्रजमंडलके १२ वनोंके नाम इस प्रकार लिखे गये हैं : १. मधुवन, २. तालवन, ३. कुमुदवन, ४. बहुलावन, ५. कामवन, ६. खदिरवन, ७. वृंदावन, ८. भद्रवन, ९. भांडीरवन, १०. बेलवन, ११. लोहवन और १२. महावन। इनमेंसे आरंभके सात मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, कामवन, खदिरवन और वृंदावनको यमुना नदीकी दाहिनी ओर तथा अंतके पाँच भद्रवन, भांडीरवन, बेलवन, लोहवन और महावनको बायीं ओर बतलाया गया है। इन सभी वनोंमें श्रीकृष्णकी विविध लीलाएँ हुई थीं।

कृष्णोपासक विविध संप्रदायोंके कारण श्रीकृष्ण-लीलाके उक्त वनों और स्थलोंका महत्त्व इतना बढ़ गया था कि समस्त भारतके भक्तगण उनके दर्शन और परिभ्रमणके लिए आने लगे। तभी 'वनयात्रा' या 'व्रजयात्रा' का प्रचार हुआ और इसका एक निश्चित क्रम बाँधा गया। जिन वनों और स्थलोंमें होकर यात्रा जाने लगी, उनकी परिधिके क्षेत्रको 'व्रज' या 'व्रजमंडल' कहा जाने लगा और उसका विस्तार ८४ कोसका समझा गया।

इस प्रकार पुराणोंमें वर्णित व्रज और उसके समस्त वन-उपवनोंके महत्त्वका आधार परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवत, दशम स्कंधके चतुर्दश अध्यायके ३२वें श्लोकमें कहा गया है, कि नंदगोपके व्रजमें निवास करनेवाले व्रजवासियोंके भाग्यकी किस प्रकार सराहनाकी जाय, जिनके मित्र परमानंद सनातन पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण हैं :

अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम्॥

इस प्रकार पुराणोंमें व्रजका जो कुछ वर्णन है, वह श्रीकृष्ण-लीलाकी पावनस्थली होनेके कारण है। पद्म-पुराण, भागवत-पुराण और ब्रह्मवैवर्त-पुराण श्रीकृष्णकी विविध लीलाओंसे भरे हैं। फलत: उनसे व्रजकी महत्ता भी विज्ञापित होती है। इनमें श्रीकृष्ण-लीलाओंके कथनके लिए तो श्रीमद्भागवतका दशम स्कंध अनुपम और अपरिहार्य है। उससे प्रेरणा प्राप्तकर सैकड़ों कवियोंने श्रीकृष्णसंबंधी अपनी सहस्रों रचनाएँ की हैं। इस पुराणकी

महत्ताका एक बड़ा कारण श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान ही है, जैसा कि पद्म-पुराणमें कहा गया है :

पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम्।
यत्र प्रतिपदं कृष्णो गीयते बहुदर्शिभिः॥

भावुक भक्तोंने अपनी उपासना और मानसी ध्यानके लिए व्रजके एक आध्यात्मिक रूपकी भी कल्पना की है। उन कल्पनाशील भक्तजनोंने इस महिमा-मंडित दिव्यव्रजको गोलोकका प्रतीक माना है। 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण'में इस गोलोकका अत्यन्त अलौकिक और रहस्यपूर्ण वर्णन किया गया है। वह महत्तम ऐश्वर्यपूर्ण दिव्य गोलोकधाम सहस्रदल कमलके समान मंडलाकार माना जाता गया है। यह आध्यात्मिक व्रज भी गोलोकका प्रतीक होनेके कारण विविध दल (पंखड़ियों) वाले खिले हुए कमल-पुष्पके समान गोलाकार माना गया है। इसके दलोंकी संख्या १२, २४, ३२ अथवा और भी अधिक कल्पित की गयी है और उन्हें विविध वन-उपवनोंका रूप माना गया हैं। मथुरानगरी उक्त व्रज-कमलकी कर्णिका बतलायी गयी है। साधारणतया व्रज-कमलके १२ दल माने गये हैं, जो यहाँके प्रमुख १२ वनोंके प्रतीक हैं।

इस पुराणकी यह विशेषता है कि इसमें श्रीकृष्णके साथ राधाका सर्वप्रथम विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। महाभारत और हरिवंशके साथ ही साथ किसी भी प्राचीन पुराणमें, यहाँतक कि कृष्ण-लीलाके सर्वप्रधान ग्रन्थ श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। ब्रह्मवैवर्तमें श्रीकृष्णको परम तत्त्व और राधाको उनकी आदि-प्रकृति बतलाते हुए उनकी सम्मिलित लीलाओंका विस्तृत कथन किया गया है। इसमें राधाकी महत्ता प्रायः कृष्णके समान ही बतलायी गयी है। इस प्रकार इसे 'राधा-पुराण' भी कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

'श्रीकृष्ण-जन्म' नामक चौथा खण्ड इस पुराणका मुख्य भाग है, जिसमें राधा-कृष्णकी लीलाओंका विस्तृत वर्णन हुआ है। इसके आरम्भमें उनके अवतार लेनेका कारण बतलाया गया है। उसमें कहा गया है कि एकबार श्रीकृष्ण राधाजीके विहार-स्थलसे विरजादेवीके निवास-स्थलपर चले गये थे। यह बात राधाजीको अच्छी नहीं लगी। ये अपनी सखियोंसहित श्रीकृष्णकी खोजमें विरजाके भवनको गयीं। वहाँ द्वारपालके रूपमें श्रीदामाने उन्हें अन्दर जानेसे रोक दिया। उससे राधा अत्यन्त कुपित हुईं और उन्होंने श्रीदामाको गोलोक छोड़कर असुरयोनिमें जन्म लेनेका शाप दिया। श्रीदामा इससे अत्यन्त क्षुब्ध हुआ, उसने भी राधाको शाप दिया कि वे भी गोलोक छोड़कर मानुषी-योनिमें जन्म लें। राधा उस शापके कारण अत्यन्त दुःखित हुईं। वे गोलोकमें श्रीकृष्णके सहवाससे पलपर भी विलग नहीं होना चाहती थीं। इसपर श्रीकृष्णने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि वे स्वयं भी अवतार लेंगे और व्रजमें उनके साथ नाना प्रकारकी लीलाएँ करेंगे। इस प्रकार वाराहकल्पमें श्रीकृष्ण और राधाका अवतार हुआ। इसमें श्रीकृष्णके जन्म और उनकी बाल-लीलाओंका कथन करनेके

(शेष पृष्ठ ६४ पर)

करहुं सोई जो तुम्हहिं सोहाई

श्री लक्ष्मीनिवास बिरला

★

रामचरित-मानसको रचना चार सौ साल पुरानी हो गयी। तुलसीदास उस युगमें हुए थे, जब संस्कृतके सिवा भाषामें ग्रंथ लिखनेका प्रायः साहस ही नहीं किया जाता था। आम लोग संस्कृत नहीं समझते थे, इसलिए पढ़नेवाले कुछ लोगोंतक ही सीमित थे। संस्कृतके पण्डित होते हुए भी तुलसीदासने जनसाधारणको रामकी कथा सुनानेके लिए भाषामें लिखकर जान-बूझकर खतरा मोल लिया था। संस्कृतके पण्डितोंने उन्हें बुरा-भला कहा, उनकी निन्दा की। किन्तु सामान्य जनतामें रामचरितमानस इतना अधिक लोकप्रिय होने लगा कि पण्डितोंको बाध्यतः अपना मत बदलना पड़ा। उन्होंने घोषणा की :

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जङ्गमस्तरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

कालान्तरमें गोस्वामी श्रीमन्नारायणाचार्यने मानसका संस्कृतमें बड़ा सुन्दर अनुवाद किया।

यह अलौकिक रचना इतने वर्षों बाद भी आज कहीं अधिक लोकप्रिय बन गयी है। रामचरितरूपी मानसरोवरमें पढ़े और अनपढ़े सभी सहर्ष गोता लगाते हैं और जिसकी मुट्ठीमें जितने रत्न आते हैं, वह निकाल लाता है।

मानस बड़ा ही अगाध है, उसके तलका एक-एक कण अनमोल मणि है। उसे निरखने और समझनेके लिए गहरा उतरना पड़ता है। पर यह नहीं कि किनारे बैठा हुआ कोई कोरा ही रह जाय। उसे भी कुछ-न-कुछ तो मिल ही जाता है।

बाल्यकालकी लीलाके बाद ही रामके वनवाससे वास्तवमें कथा शुरू होती है। यों सारी ही कथा ज्ञान एवं भक्ति-रससे परिपूर्ण है, किन्तु अयोध्याकांडका प्रमुख भाग पितृ-आज्ञाका पालन करना है।

महाराज दशरथने गुरु वशिष्ठसे सलाह करके रामके राज्याभिषेकका निश्चय किया। यह समाचार फैलते ही अयोध्याभरमें बधावे बजने लगे। जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ मंगलगीत गाने लगीं। तुलसीदासजी लिखते हैं : "कोयलकी-सी मीठी वाणोवाली, चन्द्रमाके समान मुखवाली और हरिणके बच्चेके-से नेत्रोंवाली स्त्रियाँ मंगल-गान करने लगीं। वशिष्ठजीने आज्ञा दी : "नगरमें अनेक सुन्दर मण्डप सजाओ, फलोंसमेत आम, सुपारी और केलेके वृक्ष नगरकी गलियोंमें चारों ओर रोंप दो। मनोहर मणियोंके चौक पुरवाओ और बाजारको खूब सजाओ।"

अयोध्यामें यह महोत्सव हो ही रहा था कि आनन्द-विभोर राजा दशरथने कैकेयीके महलमें जाकर सुना कि वह तो कोप-भवनमें हैं। वे सहम गये। डरते-डरते कैकेयीके पास पहुँचे।

बहुत मनाया, पर हठीली रानीने रामकी शपथ दिलाकर दो वर माँग लिये; एक तो भरतको राज, दूसरा रामको चौदह वर्षका वनवास !

रामने पिताकी आज्ञाका पालन किया। माता कैकेयीसे बोले :

सुन जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु-मातु बचन-अनुरागी॥

और माता कौशल्यासे विदा माँगते हुए कहा :

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।

अयोध्याके नागरिक बड़े क्षुब्ध और रुष्ट थे :

भलि बनाय बिधि बात बिगारी।
जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी॥

सीता और लक्ष्मणके साथ श्रीराम वनको विदा हुए। मन्त्री सुमन्त्र उन्हें गंगातक छोड़कर जब लौटे तो तुलसीदास लिखते हैं कि 'रामको लौटा न देखकर सारा रनिवास व्याकुल हो गया। राजमहल उनको ऐसा भयानक लगा मानो प्रेतोंका निवासस्थान हो।'

अब प्रश्न यह उठता है कि सारी प्रजा माताओं, मन्त्रियों और यहाँतक कि राजा दशरथको भी, जिन्होंने अन्तमें प्राण ही छोड़ दिये, त्यागकर एक कैकेयीके प्रति वचनबद्ध राजाकी आज्ञा मानना क्या रामको उचित था ?

उधर भरत ननिहालमें थे। जब लौटे तो देखा, कौए बुरी तरह काँव-काँव कर रहे हैं। गधे और सियार विपरीत बोल रहे हैं। चारों ओर भयानक सन्नाटा ! विक्षुब्ध लोग घरोंमें बैठे रहे, उनकी अगवानी करने नहीं गये। भरत माता कैकेयीके पास गये और सबका कुशल-क्षेम पूछा। पिताका मरण और रामका वनवास सुनकर वे सन्न रह गये। माता कौशल्याने भरतसे कहा कि "बेटा काल और कर्मकी गति अमिट है।" वशिष्ठजीने आकर कहा :

राय राज पद तुम्ह कहँ दीन्हा।

माता कौशल्याने भी समझाया :

पूत गुरु पथ्य आयसु अहई।

मन्त्रियोंने विनती की :

कीजिअ गुरु-आयसु अवसि।

भरतने प्रजाकी तरफ देखा, पर सब चुप थे। उसका मन भी शोकयुक्त था। बोले :

पितु सुरपुर सिय राम बन, करन कहहु मोहि राजु।
मोहि राज हठि देइहहु जबहीं, रसा रसातल जाइहि तबहीं॥

मुझे तो श्रीरामके पास जानेकी ही आज्ञा दीजिये।

भरत श्रीरामके पास चित्रकूट गये और उनकी खड़ाऊँ लेकर लौट आये। खड़ाऊँ राज-सिंहासनपर प्रतिष्ठित कर उनकी ओरसे बड़ी अच्छी तरह राज चलाया। कैकेयीने भरतके लिए राज माँगा था। भरतने चौदह वर्ष राज तो किया, पर श्रीरामके प्रतिनिधिके रूप में।

ऐसे संघर्ष प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें आते ही रहते हैं। बड़ोंकी आज्ञा मानना उचित है या अनुचित ? रामने भी आज्ञा मानी और भरतने भी आज्ञा मानी और प्रतिनिधिके रूपमें राज भी चलाया।

रामने आगे चलकर एक प्रसंगपर कहा था :

सुनहु सकल पुरजन मम बानी,
कहउँ न कछु ममता उर आनी।
नहिं अनीति, नहिं कछु प्रभुताई,
सुनहु जो करहु तुम्हहिं सोहाई॥

प्रभुताईके भयसे मेरी कोई बात आप लोग स्वीकार न करें। कहीं भी अनीतिकी आशंका हो तो वह बात ग्रहण न करें। सोच-विचारकर जो मनमें ठीक जँचे, वही करें।

प्राणीको मिली प्रज्ञा और इस प्रकार हुआ मनुष्यका निर्माण ! उसने नये इतिहासका सर्जन आरम्भ किया। उसके पास मस्तिष्क था। उसके माध्यमसे भगवान् द्वार सर्जित जीवोंके बीच अपने ढंगसे मनुष्य भी नवसृजनकर्ता बना। उसकी गरिमाका मापदंड उसकी वैचारिक विशिष्टता है।

वह अपने विचारों, आदर्शों, यथार्थों एवं प्रतीकोंका अपना संसार बनाता है। उसकी कला और उसके शिल्प उसकी बुद्धिकी देनको प्रतिबिंबित करते हैं। इस अर्थमें वह सृष्टिकर्ता-की प्रतिमूर्तिस्वरूप है।

प्राचीन भारतकी शिक्षा-प्रणाली अनुसंधानों द्वारा सत्यके उद्घाटनके पक्षमें थी। इसीलिए प्रश्नके लिए 'जिज्ञासा' शब्द प्रचलित था। शिक्षक छात्रोंको जिज्ञासा करने तथा प्रश्न पूछनेके लिए प्रोत्साहित कर उनके संदेहोंका समाधान करते थे। दार्शनिक साहित्य वस्तुतः निर्भीक जिज्ञासापर आधारित था। इन दार्शनिक ग्रन्थोंमें वेदोंकी प्रामाणिकतापर भी प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिये गये हैं। यहाँतक कि ईश्वरके अस्तित्वमें भी कभी-कभी अनास्था प्रकट की गयी है। इन सत्योंको चुनौती देकर ही विश्वको अग्रगति मिली है। भगवान् बुद्ध भी निर्भीक आलोचना द्वारा ज्ञानोपलब्धिके पक्षमें थे। उन्होंने अपने शिष्योंको स्वयं सोचनेके लिए प्रेरित किया और किसी भी वस्तुको सत्यकी कसौटीपर कसे बिना स्वीकार करनेसे मना किया है।

'कोई भी विचार केवल इसलिए स्वीकार नहीं करना चाहिए कि वह हमारे ग्रंथोंमें वर्णित या सर्वमान्य है। इस आधारपर भी उसे नहीं मान लेना चाहिए कि वह हमारे गुरुओं-का वचन है।' यदि भारतीय गणतंत्रको सुरक्षित रखना है, तो पूर्वोक्त दृष्टिकोणका उपयोग वर्तमान युग तथा गणतांत्रिक परिवेशमें विशेष महत्त्व रखता है। गोस्वामीजीने 'कवितावली' के उत्तरकांडमें लिखा है :

गारी देत नीच हरिचंद दधीचिहूको,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियतु है।

आप महापातकी, हँसत हरि-हरहूको,
आपु है अभागी, भूरिभागी डाटियतु है।
कलिको कलुष मन मलिन किए महत,
मसककी पांसुरी पयोधि पाटियतु है॥

स्वयं भाग्यहीन होकर भी वह भाग्यशालियोंको लांछित करता है। वह हरिश्चन्द्र और दधीचि जैसे महादानियोंको भी गाली देता है, जब कि स्वयं अपने चने खुद ही चबा जाता है—एक दाना भी किसीको देना नहीं चाहता। कलियुगके कलुषने मनको पूरी तरह मलिन कर दिया है। मच्छरकी पसलियोंके भरोसे सागरको पार करनेका दुस्साहस करता हैं।

राज्य एवं व्यक्तिके बीचकी स्पर्धा अत्यन्त असंतुलित तथा असमान है, फिर भी आत्माकी शक्तिको कम करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। यह सत्य हैं कि सांसारिक आकर्षण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं और मानवकी दुर्बलताएँ समझौता करनेके लिए बाध्य होती हैं। जो व्यक्ति भूल न करें या आत्म-हनन न करें, बहुत कम हैं, किंतु हैं कुछ अवश्य। ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या बढ़ाना आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह तभी संभव है, जब कि लोग अपने विचारोंके प्रति ईमानदार हों। ऐसे गंभीर और संतुलित विचारोंकी सृजनात्मक भूमिका बृहदारण्यक-उपनिषद्में दी गयी है।

सनत्कुमार उपदेश देते हैं: "पृथ्वी, वायुमंडल, आकाश, जल, पहाड़, देवता तथा मनुष्य सभी अपने ढंगसे ध्यानावस्थ होते हैं। मनुष्योंमें जिस किसीने भी महत्ता प्राप्त की है, उसने इसे अपनी ध्यानमग्नताके पुरस्कारस्वरूप प्राप्त किया है। ध्यानावस्थाकी प्रतिष्ठा करो।" स्पष्ट है कि मनुष्य जब सोचता है, तभी समझाता है। बिना चिंतन किये मनुष्य समझ नहीं सकता। किसी वस्तुके समझनेके मूलमें चिंतन ही है, किंतु मनुष्यके अन्दर विचारोंको समझनेकी इच्छा जाग्रत् होनी चाहिए।

दूसरोंके विचारोंका जब हम आदर करते हैं, तब अपने विचारोंको भी समाहृत करते हैं। रामचरितमानसकी शिक्षा भारतकी एक अमर शिक्षा है। यदि भारतको प्रतिष्ठित और गौरवमय जीवन बिताना है, तो इसे सर्वोच्च शिक्षाके रूपमें मानना होगा तथा इसे श्रद्धापूर्वक हृदयंगम करना होगा।

राम और भरत दोनोंने ही पिताकी आज्ञाका पालन किया, किंतु बिना सोचे समझे नहीं। पूरे विचारके बाद रामने तय किया कि जिस सदुद्देश्य को, जिस आदर्शको उन्होंने जन्मभर निभाया, उसके लिए उनका वन जाना जरूरी था। माता कौशल्याको उन्होंने बताया:

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहं सब भाँति मोर बड़ काजू॥

यह तो प्रकट ही है कि उन्होंने महान् स्वार्थ-त्याग किया।

भरतने भी पितृ-आज्ञाका पालन किया, थोड़ेसे हेर-फेरके साथ। भरतने रामजीसे बहुत विनती की कि वे अयोध्या लौटें, और बोले:

सब समेत पुर धारिअ पाऊ, आपु यहाँ अमरावति राऊ।

भरतजीका बुरा हाल था :

निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत विकल सुठि सोच।

रामजीने सब कुछ भरतजीपर ही छोड़ दिया। सारा भार अपने ही ऊपर समझकर भरतजी कुछ कह नहीं सके। अंतमें बोले :

अब कृपाल जस आयसु होई।
करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई।
अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

रामजीने खड़ाऊँ दे दी और भरतजीने बड़े प्रेमसे उन्हें सिर-माथे लगाया। यह स्पष्ट है कि रामके वन जाने और दशरथके शोकमें प्राण त्यागनेसे अयोध्या राजा-विहीन हो गयी थी। वहाँके नर-नारियोंका दुःख और शोकसे त्राण हो तथा रामके राज्यमें कोई उत्पात न हो, इस आदर्शको लेकर भरतने प्रतिनिधिके रूपमें रामका ही राज चलाया। भरतका स्वार्थ-त्याग कितना महान् था कि मिले हुए राज्यको तृणवत् छोड़ दिया !

●

(पृष्ठ ५९ का शेषांश)

अनन्तर राधाके जन्मका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। राधा-कृष्णका प्रथम मिलन इस पुराणमें अत्यन्त अद्भुत और रहस्यपूर्ण रीतिसे बतलाया गया है। इस पुराणमें गोपबालाओंके साथ श्रीकृष्णकी रास-क्रीड़ा वसन्तऋतुमें होनेका उल्लेख हुआ है; जब कि हरिवंश विष्णु-पुराण और भागवतमें शरद्-ऋतुके रासका कथन है। कंसवध; उपनयन और सांदीपनीसे शिक्षा प्राप्त करनेके अनन्तर श्रीकृष्णका यादवसमूह-सहित द्वारका जानेका उल्लेख हुआ है; किन्तु उससे पहले जरासन्धके साथ भीषण युद्धोंको कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। इसका अन्यत्र केवल संकेत मात्र कर दिया गया है। द्वारकामें श्रीकृष्णके महाभारतीय रूपका जो विकास हुआ, उसका इसमें उल्लेखतक नहीं किया गया। यह पुराण श्रीकृष्णकी केवल व्रज-लीलाओंसे ही सम्बद्ध है। उनके बीच-बीचमें दूसरे प्रसंगोंको अनावश्यक रूपसे सम्मिलित किया गया है।

इस प्रकार पुराणोंमें व्रजका जो वर्णन है, वह श्रीकृष्णकी विविध लीलाओंसे अनुप्राणित है। ये लीलाएँ इतनी प्रमुखतासे वर्णित हैं कि व्रजकी अन्य विशेषताओंको गौण बना दिया है। व्रजका जो अनुपम महत्त्व आजकल माना जाता है; वह पौराणिक कालसे पश्चात् कृष्णोपासक धर्माचार्यों एवं भक्त-कवियोंकी देन है।

●

नीति-वचनामृत

१.

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।।

परिवर्तनमय जगतमें जियत-मरत सब कोय ।
जनम सफल जाके जिये वंस समुन्नत होय ।।

२.

कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद् विशीर्येत वनेऽथवा ।।

वृत्ति मनस्विन की दुई कुसुम गुच्छ सम आहि ।
कै सबके सिरपर रहैं कै वनमें झरि जाहिं ।।

३.

बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ।।

सिसु रवि हू भूधरन सिर सोहत पाद पसार ।
तेजस्विनके वयसको करियत कहा विचार ।।

सूक्ति-सुधा

[कनकधारा-स्तव]

४.

आमीलिताक्षमधिगम्य मुदा मुकुन्द-
मानन्दकन्दमनिमेषमनङ्गतन्त्रम् ।
आकेकरस्थितकनीनिकपक्ष्म नेत्रं
भूत्यै भवेन्मम भुजङ्गशयाङ्गनाया ।।

कमल-विलोचनके लोचन हैं आधे खुले
दृष्टि अनिमेष हुई आनंद-अयनकी,
अङ्ग-अङ्ग हरिका अनङ्ग परवश हुआ-
देख छवि न्यारी रूपराशिके चयनकी ।
पाके उन्हें पास हृष्ट पूतरी बरौनियाँ भी
तिरछी हुई हैं, जिस मूरति-मयनकी,
करे भूतिदान मुझे वैभव-प्रदान वह
अङ्गनाका नयन भुजङ्गम-शयनकी ।।

•

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज,
वाराणसी-१ में मुद्रित एवं प्रकाशित